संस्कृत साहित्य की कहानी

उर्मिला मोदी

संस्कृत साहित्य
की
कहानी

लेखक
उर्मिला मोदी
एम. ए., बी. एड.

संस्कृत वर्ष
१९९९-२०००

विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

संस्कृत की कहानी का ऐतिहासिक पक्ष

भारत एक महान् देश है। इस देश की अपनी परम्परा और अपना इतिहास है। यह इतिहास बहुत लम्बा है। संस्कृत की यह कहानी इस महान् देश के इतिहास और संस्कृति की कहानी है।

संस्कृत-साहित्य बहुत विशाल और अगाध है। उसकी यह विशाल राशि पीढ़ी-दर-पीढ़ी से आगे बढ़ी। हरेक पीढ़ी ने उसे कुछ-न-कुछ दिया। अतीत की ये पीढ़ियाँ इतिहास में अलग-अलग युगों के नाम से कही जाती हैं। जिन युगों या पीढ़ियों से होकर संस्कृत की यह थाती आगे बढ़ी उन सबकी जानकारी इतिहास की पुस्तकों से होती है।

संस्कृत-साहित्य के इस विशाल इतिहास को यहाँ एक कहानी के रूप में प्रस्तुत किया गया है। सबसे पहले संस्कृत भाषा और उसके साहित्य से पाठकों का परिचय कराया गया है। उसके बाद वेद और वैदिक साहित्य की चर्चा की गयी है। फिर इस कहानी को 'रामायण', 'महाभारत' और अनेक काव्यों, नाटकों तथा कथाओं के रूप में आगे बढ़ाया गया है तथा किस तरह उसका क्रमशः विस्तार होता गया, इसकी जानकारी कराई गयी है।

संस्कृत-साहित्य की इस लम्बी कहानी को इस पुस्तक में आठ भागों में विभक्त कर लिखा गया है। इसको लिखते समय यह प्रयत्न किया गया है कि संस्कृत-साहित्य में रुचि रखने वाले नये पाठकों को किसी तरह की असुविधा न हो। इतिहास की सीमाओं के भीतर कहानी की सरसता और सुरुचि बनी रहे। इसलिए उसको नीचे लिखे आठ भागों में विभाजित किया गया है। उनके नाम हैं—

१. संस्कृत-साहित्य का मुख्य सन्देश
२. वैदिक और वैदिकोत्तर काल
३. संस्कृत-साहित्य के प्रेरणास्रोत
४. कालिदास और उनका युग
५. संस्कृत-साहित्य का उत्कर्ष युग
६. संस्कृत की नीति-कथाएँ और लोक-कथाएँ
७. काश्मीर का अवदान : कल्हण
८. उत्तर-कालीन संस्कृत-साहित्य

संस्कृत साहित्य का क्रमशः जिस रूप में विकास हुआ, ये आठ विभाग उसके सूचक हैं। समय-समय पर उसमें जो नयी-नयी रुचियाँ और प्रवृत्तियाँ जुड़ीं ये उनका

इतिहास बताते हैं। संस्कृत-साहित्य की यह कहानी भारत के साहित्यिक नव-जागरण की जानकारी के लिए जितनी उपयोगी है, उतनी ही उसकी राजनीतिक और ऐतिहासिक जानकारी के लिए भी उपयोगी है।

इस पुस्तक का उद्देश्य इतिहास की जानकारी देना नहीं है, बल्कि इतिहास तथा साहित्य के लिए रुचि उत्पन्न करना है। जिन पाठकों के लिए यह पुस्तक लिखी गयी है उनकी रुचि का उसमें पूरा ध्यान रखा गया है। प्रत्येक युग की संक्षिप्त जानकारी देने के बाद उस युग के कवियों और लेखकों का परिचय दिया गया है।

संस्कृत के इन कवियों और लेखकों को हुए आज सैकड़ों-हजारों वर्ष बीत गये। इसलिए उनके जीवन के सम्बन्ध में बहुत कम बातें जानने को मिलती हैं। फिर भी जो कुछ जानने को मिलता है उसे सिलसिलेवार लिख दिया गया है। प्रत्येक लेखक तथा कवि के बारे में तीन बातों पर विशेष ध्यान दिया गया है। पहले उसके जीवन और समय का संक्षिप्त विवरण दिया गया है। उसके बाद उसने कितनी पुस्तकें लिखीं, उनके नाम दिये गये हैं। इसके साथ ही हरेक पुस्तक में क्या लिखा हुआ है, इसकी भी जानकारी दे दी गयी है। इनके अलावा अन्त में प्रत्येक कवि की रचना पर दो-चार बातें लिख दी गयी हैं। प्रत्येक कवि की कविता के बारे में लिखते समय अपनी ओर से कम और उसकी रचना में जो कुछ मिला है उस पर अधिक ध्यान दिया गया है।

पुस्तक की सीमाओं और पाठकों की अभिरुचि को देखते हए संस्कृत-साहित्य की सभी विधाओं का समावेश करना यहाँ सम्भव न हो सका। फिर भी उसकी खास-खास बातों पर पूरा ध्यान रखा गया है। संस्कृत के वे सभी कवि और लेखक इस कहानी में पढ़ने को मिलेंगे, जिनकी रचनाओं पर संस्कृत की यह महान् थाती टिकी हुई है।

इस पुस्तक में वेदों से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक की कहानी लिखी गयी है। पंडितराज उत्तरकालीन संस्कृत-साहित्य के सबसे बड़े कवि थे। वे मुगल सम्राट् शाहजहाँ के दरबार में रहते थे। वे आज से लगभग तीन सौ वर्ष पहले, सत्रहवीं शती में हुए। उनके बाद भी संस्कृत साहित्य की यह कहानी आगे बढ़ती गयी।

सत्रहवीं शती ईसवी से संस्कृत-साहित्य का आधुनिक युग शुरू होता है। इस युग की विशेष देन है यूरोप के देशों में संस्कृत-साहित्य का प्रचार-प्रसार। एशिया के देशों में कई सौ वर्षों पूर्व संस्कृत का प्रचार-प्रसार हो चुका था। बौद्ध धर्म और हिन्दू धर्म के सहारे वह वहाँ पहुँची। मुगल बादशाहों के समय उपनिषदों और संस्कृत की कथा-कहानियों के अनुवाद हुए। ये अनुवाद यूरोप तक पहुँचे। मुगल बादशाहों और उस समय के कुछ हिन्दू राजाओं की प्रेरणा से आयुर्वेद और ज्योतिष जैसे वैज्ञानिक विषयों पर भी नये कार्य हुए।

इस देश के राजनीतिक इतिहास से हमें मालूम होता है कि लगभग तीन सौ वर्षों तक यहाँ मुगलों का साम्राज्य रहा। उसके बाद शासन की बागडोर अंग्रेजों के

हाथों गयी। उन्होंने भी लगभग ढाई-तीन सौ वर्षों तक यहाँ राज्य किया। छह-सौ वर्षों की लम्बी पराधीननता में भी संस्कृत-साहित्य की परम्परा क्षीण नहीं हुई।

इस युग में संस्कृत का वैज्ञानिक अध्ययन हुआ। संसार के प्राचीनतम भाषा परिवारों से उसकी तुलना की गयी। संस्कृत को संसार की सबसे पुरानी भाषाओं में गिना जाने लगा। उसके विशाल साहित्य की ओर विदेशियों का ध्यान गया। संहिता, उपनिषद्, गीता, पुराण, धर्मशास्त्र, काव्य, नाटक और कथा-कहानियों के अंग्रेजी में अनुवाद हुए। अंग्रेजी के अलावा यूरोप की दूसरी भाषाओं में भी संस्कृत की पुस्तकों के अनुवाद हुए। इस तरह संस्कृत की महान् विरासत विश्व के कोने-कोने में फैली। संसार के लोगों ने भारत को ज्ञानियों और पंडितों का देश स्वीकार किया।

इस आधुनिक युग में संस्कृत साहित्य के इतिहास लेखन का कार्य भी हुआ। इन इतिहास की पुस्तकों में संस्कृत के विशाल साहित्य की लम्बी परम्परा का अलग-युगों में विभाजन किया गया है। उनमें यह दिखाया गया कि संस्कृत साहित्य की धारा किस रूप में आगे बढ़ती गयी।

आधुनिक युग को इस माने में बड़ा महत्व दिया जाता है कि उसमें संस्कृत की नयी खोज हुई। इन खोजी लोगों में अंग्रेज, जर्मन, और फ्रेंच लोगों का नाम पहले आता है। इस नयी खोज से संस्कृत का बड़ा हित हुआ। इसके अलावा यूरोपीय साहित्य पर उसका बड़ा असर हुआ। यूरोप के आधुनिक साहित्य के इतिहास में संस्कृत की इस खोज को 'पुनर्जागरण' के नाम से कहा गया है।

आधुनिक युग में संस्कृत का प्रचार-प्रसार होने के साथ-साथ उसका निर्माण भी होता रहा। उसकी जो ऊँची परम्परा चली आ रही थी वह भी इस युग में आगे बढ़ी। उसको बढ़ाने और बनाने का काम पुरानी पीढ़ी के पंडित वर्ग ने किया। जिन लोगों का यह कहना है कि आज के जीवन में संस्कृत दूर हो गयी, वे भूल करते हैं। देश के ओर-छोर तक आज भी सहस्त्रों विद्वान् संस्कृत साहित्य के निर्माण में लगे हुए हैं। आज भी ऐसे विद्वानों की कमी नहीं है जिनकी वाणी में कालिदास, बाण और भवभूति की कविता का नयां रूप देखने को मिलता है। दक्षिण के श्रीनारायण भट्ट आधुनिक युग की ही देन है, जिन्होंने अकेले ९३ नाटक लिखे। इसी प्रकार श्री राधामंगलम् शास्त्री को १०८ पुस्तकों का लेखक माना जाता है। काव्य-नाटकों और कथा-कहानियों के अतिरिक्त इतिहास, मनोविज्ञान और भाषा शास्त्र जैसे नये विषयों पर भी इसी युग में पुस्तकें लिखीं गयीं। संस्कृत की पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित रचनाओं को देख कर भी संस्कृत की वर्तमान स्थिति का पता लगाया जा सकता है।

इस प्रकार अपने पुरातन में संस्कृत-साहित्य जितना विशाल और सजीव था, आज भी उसकी परम्परा बनी हुई है। 'जीवित' का सम्बन्ध जीवन और विचारों से है। इस रूप में संस्कृत सदा ही जीवित रही है। आज भी इस राष्ट्र के साथ उसका अटूट सम्बन्ध है और उसकी भावनाओं को वाणी देने का कार्य कर रही है।

पुस्तक में कवियों के समय की चर्चा करते हुए सन्–सम्वतों का उल्लेख करना जरूरी था। पाठकों की सुविधा के लिए सभी जगह ईसवी–सन् का प्रयोग किया गया है। इसके साथ ही मोटे तौर पर सभी कवियों, लेखकों और पुस्तकों की गणना वर्षों में भी दे दी गयी है। इस रीति से पुस्तक को पाठकों पर इतिहास का भार बनने से बचाया गया है।

विश्वास है, संस्कृत–साहित्य की यह कहानी पाठकों को संस्कृत के विशाल साहित्य के अध्ययन के प्रति रुचि जागृत करेगी। संस्कृत साहित्य हमारे देश की सभ्यता, संस्कृत, इतिहास, ज्ञान तथा विज्ञान को जानने का माध्यम है।

आशा है इससे पाठकों का मनोरंजन से अधिक ज्ञानवर्धन होगा।

❑

विषय-क्रम

❑

१

संस्कृत साहित्य का मुख्य सन्देश

संस्कृत साहित्य ने इस देश को, विश्व को क्या सन्देश दिया, इसको जानने के लिए संस्कृत भाषा के सम्बन्ध में जान लेना आवश्यक है। संस्कृत भाषा का जन्म कब और कैसे हुआ, वह आगे कैसे बढ़ी ? इन बातों को जान लेने पर उसके महान् सन्देश को सरलता से जान सकेंगे।

आज हमारे देश में कई भाषाएँ बोली और लिखी जाती हैं। उनके निर्माण तथा विकास में संस्कृत का क्या योगदान रहा, इन बातों का उत्तर भी हमें यहाँ पढ़ने को मिलेगा। संस्कृत भाषा की इस कहानी को पढ़ते समय हमें अपने देश की उन पुरानी भाषाओं की भी जानकारी मिलेगी, जो अब नहीं रहीं। संस्कृत के द्वारा भाषाओं की यह थाती हमें कैसे मिली, इसकी कहानी लम्बी है।

संस्कृत भाषा

संस्कृत संसार की सबसे पुरानी भाषाओं में गिनी जाती है। इस भाषा का 'संस्कृत' नाम क्यों पड़ा, इसकी भी एक कहानी है।

आज से हजारों वर्ष पहले हम जिस भाषा को बोलते थे वह आज की भाषा से एकदम भिन्न थी। सबसे पहली बात यह है कि उस भाषा में रीति-नियम, कायदे-कानून कुछ नहीं थे। इस कारण अपने विचारों को दूसरे पर प्रकट करने के लिए हमारे सामने कई तरह की कठिनाइयाँ थीं। बोल-चाल के लिए एक ऐसी भाषा या बोली नहीं थी, जिसको सभी प्रयोग में लाते। ऐसी हालत में अगर हम अपने या किसी दूसरे के विचारों को आगे के लिए सहेज कर रखना चाहते तो हमारे पास कोई माध्यम नहीं था।

इस कठिनाई को दूर करने के लिए एक दिन देवता अपने राजा इन्द्र के पास गये। उन्होंने इन्द्र से कहा, 'देवराज, हमारे पास कोई ऐसी भाषा नहीं है, जिससे पढ़ाई-लिखाई हो सके। हमारे पास जो ज्ञान-विज्ञान और कला-कौशल है, हमारे जो विचार हैं, उनको सहेज कर रखने का कोई माध्यम हमारे पास नहीं है। इस समय हमें एक ऐसी भाषा की आवश्यकता है जो सरल हो और सब लोग जिसका प्रयोग कर सकें।'

देवताओं की यह बात देवराज इन्द्र को भी पसन्द आई। उन्होंने भी सोचा, बात ठीक ही है। अगर पढ़ाई-लिखाई के लिए कोई भाषा न हुई तो एक युग के साथ उसकी सारी देन भी मिट जायगी। उन्होंने देवताओं को विश्वास दिलाया। उन्हें वापस कर दिया।

भाषा की इस कठिनाई को दूर करने के लिए देवराज ने सबसे पहले नियम-कानून बनाये। फिर उन नियम-कानूनों के साँचों में उस समय की बोलियों को ढाला। उसके बाद भाषा के सारे प्रयोगों को निश्चित किया।

इस तरह देवराज इन्द्र ने जिन नियम-कानूनों को बनाया उन्हें ऋषियों को दिया! ऋषियों ने उनको देखा। उन पर विचार किया। इसके बाद उन्होंने भाषा के उन नियम-कानूनों का नाम दिया 'ऐंद्र व्याकरण' अर्थात् इन्द्र के बनाये हुए नियम-कानून।

इस तरह बोल-चाल के लिए एक भाषा बनी। उसको ऋषियों ने देवताओं को दिया। देवताओं ने सबसे पहले उसका प्रयोग किया। देवताओं द्वारा सर्वप्रथम प्रयोग में आने के कारण उस भाषा का नाम पड़ा 'देवभाषा' या 'देववाणी'। क्योंकि उसको व्याकरण के नियमों से बाँधा गया था। इसलिए उसी को 'संस्कृत' नाम से भी कहा जाने लगा। 'संस्कृत' उसे इसलिए कहा गया, क्योंकि उसका संस्कार किया गया था। उसको माँजा गया था। उसको व्याकरण के नियमों से बाँधा और ठीक किया गया था। इस तरह संस्कार की गयी भाषा को 'संस्कृत' नाम से कहा गया।

एक सरल और सुगम भाषा बन जाने के कारण कई बातों की सुविधा हो गयी। किसी बात को याद करना और उसको लिखना सुगम हो गया। सबके बोलने और समझने का भी एक जरिया निकल आया।

तब से लेकर आगे की कई सदियों तक संस्कृत ही इस देश की भाषा रही। उसी में बोला गया और उसी में लिखा भी गया। इस विशाल और महान् देश की सारी पुरानी थाती संस्कृत भाषा में ही जीवित है। इस देश की कला, संस्कृति, साहित्य और ज्ञान-विज्ञान सभी कुछ संस्कृत भाषा के द्वारा ही आगे बढ़ते रहे।

आज अगर हम अपने देश का सुनहरा अतीत देखना चाहें तो वह संस्कृत भाषा में ही देखने को मिल सकता है। संस्कृत इसी माने में ही महान् नहीं है। बल्कि इसलिए भी कि संसार की कुछ इनी-गिनी भाषाएँ ही उसके समान हैं। इस माने में संसार के कुछ ही देश ऐसे हैं, जिनकी भाषा में ज्ञान की इतनी भारी विरासत है।

एक युग था, जब संस्कृत इस देश की बोल-चाल की भाषा थी। सारे देश के लोग उसको बोलते थे। उसी में लिखते थे। सारा राज-काज उसी में होता था। उसकी पढ़ाई-लिखाई के लिए राज्य की ओर से प्रबन्ध था। एक पढ़ा-लिखा ही नहीं, एक रथ हाँकने वाला भी संस्कृत में बात करता था। जनता एकसाथ बैठकर संस्कृत के नाटकों को देखती और उनसे मनोविनोद किया करती थी।

राजकाज और बोलचाल के अलावा व्यापार-व्यवसाय के लिए भी संस्कृत का ही प्रयोग किया जाता था। न केवल भारत में, बल्कि बाहरी द्वीपों में भी उसे बोला-समझा जाता था। व्यापार के लिए लेन-देन की बातें उसी में होती थीं। इकरारनामे उसी में लिखे जाते थे। यह बहुत पुरानी बात नहीं। इसको बीते लगभग छः-सात सौ वर्ष हुए हैं।

राजकाज, बोलचाल और व्यापार के अलावा एक समय वह इस देश की राष्ट्रभाषा भी बनी। तब जितने भी बड़े-बड़े काम होते थे उनमें संस्कृत का ही प्रयोग

किया जाता था। संस्कृत एक युग में इस देश की राष्ट्रभाषा थी। इसके कई प्रमाण आज विद्यमान हैं। शिलाओं, मंदिरों, कलाघरों, स्तूपों पर जो लेख खोदे गये वे अधिकांश संस्कृत में ही हैं। इनके अलावा जब किसी को कोई जमीन-जायदाद देनी होती, पद-उपाधि देनी होती, दान एवं भेंट देनी होती तो उसे संस्कृत में ही लिखा जाता था। इस प्रकार के संस्कृत में खुदे ताम्रपत्रों की संख्या सैकड़ों की तादाद में मिलती है। सारे अनुबंध पत्र भी संस्कृत में ही लिखे जाते थे। इतना ही नहीं, सिक्कों पर भी संस्कृत में ही लिखा जाता था। राज्य की सभी आज्ञाएँ, आदेश भी संस्कृत में ही होते थे। इस प्रकार संस्कृत भाषा इस राष्ट्र का जीवन थी। हमारा धर्म, संस्कृति, हमारे सारे आचार-विचार उसी में हैं। इस देश के साथ उसका अटूट सम्बन्ध है।

संस्कृत भाषा आगे-आगे कैसे बढ़ी, इसकी भी एक कहानी है। इतिहास की पुस्तकों में उसके विकास की कहानी लिखी हुई है। इन पुस्तकों से हमें यह मालूम होता है कि हमारे देश में भाषा की दो धाराएँ एकसाथ आगे बढ़ीं। भाषा की एक धारा तो जनवाणी से निकली। जनता की बोली के रूप में वह आगे बढ़ी। इसको 'लोक बोली' अथवा 'लोकभाषा' कहा जाता है। भाषा की दूसरी धारा उन विचारकों ने बहाई, जो लोक को कुछ नयी बातें देना चाहते थे। ये लोग ऋषि थे। उन्होंने जिस धारा को बहाया, उसे पढ़ाई-लिखाई के लिए अपनाया गया। उसी को 'संस्कृत' कहा गया। भाषा या वाणी की जो लोक-धारा थी वही नियमों से बँध कर साहित्य-धारा बनी।

संस्कृत भाषा के जीवन में ऐसे भी अवसर आये, जब लोक भाषाओं ने उसकी जगह लेनी चाही। लेकिन इसमें वे सफल न हो सकीं। उसके दो बड़े कारण थे। एक तो वह अपनी सीमाओं में बँधी रही, और दूसरे में उसने जन-जीवन का साथ न छोड़ा।

संस्कृत भाषा का इतिहास हमें बताता है कि वह हमेशा ही आगे बढ़ती रही। आगे चलकर एक समय ऐसा आया कि जब उसके भीतर से दो शाखाएँ और फूट पड़ीं। उनके नाम थे—प्राकृत और आज की भारतीय भाषाएँ।

प्राकृत भाषा को लोक ने बहुतायत से अपनाया। साहित्य में भी वह उसी तीव्र गति से फैली। प्राकृत भाषा का पहला पंडित था वररुचि। वह उज्जैन के राजा विक्रमादित्य के दरबार के नौ रत्नों में से एक था। उसने बोलचाल की लोक बोली को साहित्य में ढाला। संस्कृत के सभी कवियों और लेखकों ने उसकी बड़ी प्रशंसा की।

प्राकृत को साहित्य की भाषा बानाने का काम किया जैनों ने। जैनों का बहुत बड़ा साहित्य प्राकृत में ही लिखा मिलता है। धर्म और दर्शन की अच्छी पुस्तकें उसी में लिखी गयीं। जैन-साधु-सन्तों ने जनता के सामने जो उपदेश दिये वे भी प्राकृत में ही थे। जन भाषा या लोकबोली में होने के कारण उनको जनता ने अपनाया भी बहुत बड़ी संख्या में।

संस्कृत से अपने लिए बल और प्रेरणा लेकर प्राकृत भाषा बहुत बढ़ी। वह यहाँ तक बढ़ी कि एक दिन राजभाषा के आसन पर बैठ गयी। किसी समय गंगा-यमुना के दोआब के लम्बे चौड़े भू-भाग की वह राजभाषा रही।

प्राकृत की एक शाखा पालि नाम से सामने आई। यह भी उस युग की लोक भाषा थी। तथागत बुद्ध ने अपनी शिक्षाओं के लिए इसी भाषा को अपनाया। बुद्ध ने जो उपदेश दिये थे उनको जिन पुस्तकों में लोगों ने एक जगह किया उन्हें 'त्रिपिटक' नाम से कहा जाता है। 'त्रिपिटक' अर्थात् बुद्ध की वाणियों के तीन पिटारे। वे पालि में ही हैं।

प्रियदर्शी राजा अशोक हमारे इतिहास के अमर रत्न हैं। वे राजा ही नहीं, राजाओं के भी राजा थे। इसलिए उनको 'सम्राट्' कहा जाता था। अशोक ने पालि भाषा को बढ़ाने में बहुत मदद की। उन्होंने उसको इसलिए अपनाया कि जनता उसको बोल और समझ सकती थी। मगध जहाँ कि उनका राज्य था, वहाँ की वह राजभाषा रही। मथुरा और उज्जैन में भी वह बोली जाती थी। देश के चारों कोनों और सुदूर नेपाल तक राजा अशोक के लेख पालि भाषा में ही खुदे हुए मिले हैं।

पालि भाषा का नाम आज भी जीवित है। वह इसलिए कि उसमें बहुत साहित्य लिखा गया। बौद्धधर्म का सारा साहित्य उसी में है। जिस तरह जैनियों ने प्राकृत को उसी तरह बौद्धों ने पालि को अपनाया।

प्राकृत का तीसरा रूप अपभ्रंश है। अपभ्रंश भाषा एक ऐसी कड़ी है, जो पुरानी और नयी भारतीय भाषाओं को जोड़ती है। छठीं शती से बारहवीं शती के छ:सौ वर्षों तक अपभ्रंश भाषा का अच्छा विकास हुआ। वह जनता की भाषा रही। लेकिन इन छ: सौ वर्षों के भीतर उसमें कई पुस्तकें लिखी गयीं।

गुजरात के प्रतिहार राजाओं ने इस जन बोली को बढ़ावा देने में बहुत मदद की। उसके बाद दिगम्बर जैनियों ने भी उसे अपनाया। उसी से हिन्दी का जन्म हुआ।

इस तरह संस्कृत भाषा की विरासत आगे बढ़ती रही। जन बोलियों और उनके साहित्य को उसने प्रेरणा दी। आज की अनेक जन बोलियों और चौदह भारतीय भाषाओं के रूप में संस्कृत का सम्बन्ध बना हुआ है।

हमें मालूम है कि हमारे देश में अनेक धर्मों और पंथों के लोग रहते हैं। उनकी अपनी-अपनी भाषा है। उत्तर से लेकर दक्षिण तक और पूरब से लेकर पश्चिम तक इस विशाल देश के भीतर कई भाषाएँ बोली जाती हैं। इन सभी भाषाओं का अपना साहित्य है। इन सभी भाषाओं और उनके साहित्य पर संस्कृत का गहरा असर है। यह असर आज भी वैसा ही बना हुआ है, जैसा कि पुराने समय में था।

संस्कृत को भारतीय भाषाओं की माता कहा जाता है। संस्कृत ने ही उनको जन्म दिया। संस्कृत से प्रेरणा और बल लेकर वे आगे बढ़ीं। उन्होंने संस्कृत की विरासत को आगे बढ़ाया। संस्कृत भले ही आज पुस्तकों के भीतर बन्द हो गयी, उसके बोलने वालों की संख्या धरती पर आज घटती जा रही है। लेकिन उसने अनेक भारतीय भाषाओं को जन्म देकर अपनी सारी थाती उन्हें दी है। संस्कृत की इस महान् थाती को बढ़ाने और फैलाने वाली भाषाओं के नाम हैं— हिन्दी, पंजाबी, काश्मीरी, सिन्धी, मराठी, गुजराती, बंगला, असमिया, ओड़िया, तेलुगु, तमिल, मलयालम और कन्नड़। आज हमारे देश की ये मुख्य भाषाएँ हैं। इनके अलावा भी हमारे देश के ओर-

छोर तक बोली जाने वाली अनेक जन बोलियाँ हैं।

इस तरह सुदूर अतीत से आज तक इस देश के जन-जीवन का संस्कृत के साथ अटूट सम्बन्ध बना रहा। इस देश का हर एक व्यक्ति संस्कृत भाषा का सम्मान करता है। संस्कृत और भारत, ये दोनों नाम ऐसे हैं, जिनको अलग नहीं किया जा सकता है।

संस्कृत भाषा के जन्म और विकास की इस कहानी के बाद हम उसके मुख्य सन्देश पर आते हैं। उसके इस मुख्य सन्देश को जान लेने के बाद हमें यह विश्वास हो जाता है कि आज भी इस देश के लिए संस्कृत की जानकारी क्यों आवश्यक है।

संस्कृत का मुख्य सन्देश

संस्कृत इस देश की वाणी है। इस देश के महान् अतीत को जानने के लिए संस्कृत ही हमारे पास एक माध्यम है। अतीत ही क्यों, इस राष्ट्र की वर्तमान नींव भी उसी से पड़ी है। भारत और भारती, अर्थात् संस्कृत वाणी का संबंध अटूट है।

संस्कृत हमारी पुरानी विरासत है। किसी भी देश के वर्तमान को जानने के लिए उसका अतीत जानना जरूरी होता है। उसका निर्माण कैसे हुआ, वह आगे कैसे बढ़ा, ये सब बातें उसके इतिहास में होती हैं। किसी भी देश और जाति के जीवन की कहानी हम उसके इस इतिहास से ही जान सकते हैं।

हमारे देश भारत की यह कहानी संस्कृत में लिखी हुई है। इस कहानी को पढ़कर हमें अपने देश के पुराने गौरव का हाल मालूम होता है। इस कहानी से हमें यह भी पता चलता है कि संस्कृत ने इस देश के निर्माण की दिशा में क्या किया। उसमें ऐसी खास बात क्या है, जिसके कारण अपने ही देश में नहीं, सारे संसार में उसका नाम लिया जाता है। युग-युगों से सारी मनुष्य जाति ने उससे क्या लिया और पाया। इस धरती के लिए उसने ऐसा क्या सन्देश दिया, जो अजर-अमर है, और जिसमें मानवता के मंगल तथा कल्याण की बातें कही गयी हैं।

इन बातों को जानने के लिए हमें संस्कृत साहित्य की शरण में जाना होगा। सबसे पहले हमें यह सन्देश वेदों में खोजना होगा। वेदों ने हमको तप, त्याग और परोपकार का सन्देश दिया।

वेदों ने हमें सत्यपथ पर चलने का सन्देश दिया। इसके अलावा उन्होंने हमें अपने भीतर और बाहर दोनों ओर देखने और जानने का रास्ता बताया। उन्होंने हमें यह बताया कि पेड़ का जो रूप हमारे सामने है वही उसका सब कुछ नहीं है। उसको जहाँ से जीवन मिलता है, शक्ति मिलती है, उसका वह मूल, वे जड़ें हमारी आँखों से ओझल हैं। इसलिए किसी चीज की पूरी जानकारी प्रास करने के लिए हमें आँखों से ही नहीं, बुद्धि और मन से भी काम लेना चाहिए। यह जानकारी हमें वेदों ने दी।

वेदों में दो तरह की बातें कही गयी हैं। एक है कर्म की और दूसरी है ज्ञान की। वेदों के बाद जो पुस्तकें लिखी गयीं, उनमें इन्हीं दो बातों की चर्चा की गयी है। वेदों के बाद लिखी गयी ब्राह्मण और आरण्यक पुस्तकों में कर्म की बातें बतायी गयी

हैं। कर्म अर्थात् यज्ञ, हवन, संख्या, पाठ, पूजा आदि। ये कर्म आज के कर्मों से कुछ अलग हैं। लेकिन आज की तरह उनका ध्येय भी जीवन को, समाज को अच्छे रास्ते पर लाना था। मनुष्य-जीवन में और सारे मानव समाज में व्यवस्था बनी रहे। सब लोग अपने-अपने कर्मों के अनुरूप अपने जीवन को ऊँचा उठायें, आगे बढ़ें। इसलिए उनको अपने-अपने कर्मों में लगा रहना चाहिए।

वेदों के बाद लिखी गयी इन पुस्तकों ने वेदों की विरासत को आगे बढ़ाया। उसको जनता के जीवन में उतारा। उनसे समाज को शुद्ध आचार-विचार मिले। उन्होंने समाज में सादगी और सदाचार के बीज बोये। इस बीज से जो पौधा पैदा हुआ उसे 'धर्म' के नाम से कहा गया।

इस तरह ब्राह्मणों और आरण्यकों ने समाज में धर्म की चेतना को जगाया। धर्म की इस चेतना ने मानवता की नई पौध को जीवन दिया। उसके फलने-फूलने के लिए जमीन बनायी। इस तरह धर्म की धारा से सिंचकर मानवता आगे-आगे पनपती गयी।

इस प्रकार संस्कृत ने मनुष्य को धर्म का मंगलमय सन्देश दिया।

वेदों के ज्ञान की विरासत को आगे बढ़ाया उपनिषदों ने। उपनिषदों ने इस देश को सोचने-विचारने का नया तरीका बताया। उन्होंने संस्कृत साहित्य में नयी विचारधारा को जन्म दिया। इस विचारधारा में जीवन और जगत् के प्रश्न उठाये गये। यह आत्मा, यह शरीर, यह संसार और ये इतने काम-धाम क्या हैं— उन बातों पर उपनिषदों में विचार किया गया। उपनिषदों ने हमें बताया कि मनुष्य अविद्या और अज्ञान के कारण अपना और इस संसार का सही रूप नहीं देख पाता। विद्या और ज्ञान की रोशनी से ही उनके सही रूप को देखा जा सकता है।

उपनिषदों ने एक नया प्रश्न सामने रखा। उन्होंने यह प्रश्न उठाया कि इस संसार को चलाने वाला कौन है? किसके इशारों पर ये दिन-रात, ये ऋतुएँ अपने-अपने नियमों में बँधे हुए आते-जाते हैं? संसार के इस चक्र को चलाने वाला कौन है?

इन प्रश्नों का उन्होंने उत्तर भी खोज निकाला। उन्होंने एक ऐसी शक्ति को खोज निकाला, जिसके हाथों में संसार की सारी बागडोर है। उसकी इच्छा और उसके इशारों पर ही सब कुछ होता है। उसको पाने के लिए ज्ञान की आवश्यकता है। यह ज्ञान मनुष्य को अपने भीतर से ही मिलता है।

उपनिषदों ने जीवन की सच्चाई को सामने रखा। उन्होंने बताया कि यह जीवन दुःखों का घर है। यह अनेक तरह के बन्धनों से बँधा है। यह जन्म और मरण के चक्र में घूम रहा है। जन्म और मरण की यह सच्चाई किसी से छिपी नहीं है। इस जन्म-मरण के दुःख से छुटकारा पाने के लिए उपनिषदों ने एक उपाय बताया—ज्ञान, आत्मज्ञान।

इस तरह उपनिषदों ने हमें ज्ञान के रास्ते पर चलने का नया सन्देश दिया।

उपनिषदों के इस नये सन्देश को लेकर छह दर्शनों का जन्म हुआ। उपनिषदों की एक-एक बात को दर्शनों में खूब खोल कर लिखा गया है। दर्शन इस देश की बौद्धिक उन्नति के सूचक हैं। उन्होंने भारत की विचारधारा को नया मोड़ दिया।

दर्शन में बहुत सी बातें बतायी गयी हैं। उनकी जानकारी प्राप्त करने के लिए उनको अलग से पढ़ना चाहिए। यहाँ केवल इतना ही बताना पर्याप्त है कि दर्शनों ने हमें एक परम लक्ष्य को बताया है। जिस तरह नदियाँ हजारों मील चलकर समुद्र में समा जाती हैं, ठीक उसी तरह यह जीवन, यह संसार समय की खाइयों को पाटता हुआ और ऊँची-नीची मंजिलों को पार करके ईश्वर में मिल जाता है। इस आखिरी मंजिल को पाने के जो तरीके हैं उन्हें ही दर्शनों में बताया गया है।

दर्शन ज्ञान के चक्षु हैं। उनसे मनुष्य हर एक चीज को सही रूप में देख सकता है।

इस तरह दर्शनों ने हमें सच-झूठ की परख का सही रास्ता बताया। मनुष्य जाति के लिए दर्शनों का यह महान् सन्देश भारतीय विचारकों की अमर देन है। संस्कृत साहित्य की यह सहेजनीय थाती है।

जिस समय उपनिषदों के ज्ञान की बातों को दर्शनों में उतारा जा रहा था उसी बीच संस्कृत साहित्य में कुछ नए काम हुए। ये नये काम छः वेदांगों के नाम से कहे जाते हैं। वेदों की जिन बातों को ब्राह्मणों, आरण्यकों और उपनिषदों ने नहीं कहा था उन्हें छः वेदांगों में कहा गया है।

इन छः वेदांगों ने संस्कृत में ज्ञान-विज्ञान की नयी शाखाएँ खोलीं। इन छः वेदांगों ने संस्कृत साहित्य को जनता के नजदीक लाने में मदद की। उनमें से कुछ तो समय की गति और जनता की माँग को पूरा न करने के कारण अपने आप में सिमट कर रह गये। लेकिन कुछ खूब फूले-फले। उनकी चर्चा आगे की जायेगी।

इस देश की जो धर्म-भूमि तैयार हुई थी, छः वेदांगों ने उसे और भी पुष्ट किया।

इसी समय हम संस्कृत साहित्य को एक नए रूप में जन्म लेते हुए पाते हैं। यह युग था पुराणों का। पुराणों ने जनता की बातें जनता की भाषा में कहीं। जनता के लिए ऐसा साहित्य दिया, जो उसकी सूझ-समझ के योग्य था।

पुराणों ने वैदिक धर्म को नया रूप दिया। पुराण एक प्रकार के इतिहास हैं। उनमें धर्म, संस्कृति की बातें कही गयी हैं। देवताओं, ऋषियों और राजाओं की कथाएँ कही गयी हैं। उनके कहने का तरीका एकदम नया है।

पुराणों के बाद 'महाभारत' का नाम आता है। उसका एक भाग 'गीता' के नाम से कहा जाता है। 'गीता' ने संसार को कर्म, ज्ञान और भक्ति का नया सन्देश दिया। कर्म की बातें ब्राह्मणों और आरण्यकों में कही जा चुकी थीं। ज्ञान की बातें उपनिषदों में कही ही गयी हैं। धर्म की बातें स्मृतियों और पुराणों ने कहीं। इस तरह संस्कृत साहित्य में जो कुछ कहा गया था, 'गीता' ने उसे नये रूप में सामने रखा।

कर्म, ज्ञान और भक्ति की इस त्रिवेणी ने मिलकर एक धर्मसिन्धु तैयार किया। इस धर्म के समुद्र में सत्य, न्याय, समानता, और सच्चाई के रत्न भरपूर हैं। इन रत्नों के कारण 'गीता' भारतीय जनता का कंठहार तो बनी ही, साथ ही संसार के मानव समाज ने भी उसी प्रेम और पवित्रता से उसे अपनाया और सराहा।

'गीता' ने जो कुछ दिया, साहित्य और समाज दोनों पर उसका बड़ा असर

हुआ। उसने जीवन के आचार-विचार को ही नहीं बदला, बल्कि रहन-सहन के मामलों में भी बड़ा परिवर्तन किया।

एक ओर 'महाभारत' में वेदव्यास ने गीताधर्म का सन्देश दिया और दूसरी ओर वाल्मीकि मुनि ने 'रामायण' लिखकर लोकधर्म की कल्याणी वाणी दी। उन्होंने 'रामायण' लिखकर पिता-पुत्र, भाई-भाई और पति-पत्नि के रिश्तों का आदर्श समाज के सामने पेश किया। राजा-प्रजा के सम्बन्ध में चर्चा करके वाल्मीकि मुनि ने लोक के सामने, संसार के सामने एक ऐसा उदाहरण रखा, जिसकी मिसाल किसी भी देश के इतिहास में नहीं मिलती।

'रामायण' के रूप में उन्होंने मानवता को ऐसा सन्देश दिया, जिसको युगों-युगों तक याद किया जायगा। इस कारण 'रामाय्यण' सहज ही संस्कृत साहित्य की अनमोल निधि बन गयी। विश्व साहित्य में उसको ऊँचा स्थान दिया।

'गीता' ने धर्म के जिस उदार और महान् सन्देश को दिया था, उसको लेकर इस देश में नयी क्रान्ति का जन्म हुआ। इस नयी क्रान्ति के नेता थे महावीर स्वामी और गौतम बुद्ध। ये दोनों धर्म-नेता राजघरों में पैदा हुए थे। लेकिन जनता की भलाई के लिए उन्होंने त्याग व वैराग्य को अपनाया। उन्होंने वर्षों तक सच्चाई की खोज के लिए बहुत कष्ट सहे। अन्त में उन्होंने उस सत्य को खोज निकाला।

उस सत्य को बाँटने के लिए वे समाज के बीच आये। उन्होंने लोगों से पुरानी लीक, अन्धविश्वासों और थोथी मान्यताओं को छोड़ देने के लिए कहा। उन्होंने ऐसी बातें बताईं, जिसमें कि सारा समाज उनके पीछे हो लिया। उनकी शिक्षाओं और उनके उपदेशों को भारत ने ही नहीं, संसार ने अपनाया।

महावीर और बुद्ध ने संसार को तप, त्याग, अहिंसा, सत्य, उदारता, दया, प्रेम और समानता का सन्देश दिया। महावीर स्वामी के जैनधर्म और गौतम बुद्ध के बौद्धधर्म ने संसार को यही नया सन्देश दिया। उनका यह सन्देश संस्कृत साहित्य की थाती बन गया, राष्ट्रीय इतिहास की धरोहर हो गया।

सत्य और अहिंसा हमारे जीवनाधार हैं और पंचशील हमारा राष्ट्रीय आदर्श। तथागत बुद्ध की शिक्षाओं ने ही हमें पंचशील का सन्देश दिया। यह पंचशील आज हमारी राष्ट्र-नीति है। हमारी इस राष्ट्रनीति का आधार है मानवता का मंगल और कल्याण।

संस्कृत की यह लोकहितकारी विरासत आगे बढ़ती गयी। समय के साथ ही उसमें बदलाव भी आता गया। ये बदलाव व्याकरण और शब्दकोश जैसे विषयों के रूप में सामने आये। उनसे भाषा का एक रूप तैयार हुआ। ऐसी भाषा का, जिसे सब बोल और समझ सकें। देश का सारा काम-काज उसमें हो सके। इसके साथ ही ज्योतिष और आयुर्वेद जैसे विषयों को देकर संस्कृत में विज्ञान की नयी-नयी दिशाएँ खुलीं।

साहित्य के साथ ही समाज भी आगे बढ़ता गया। वैसे ही उसकी आवश्यकताएँ भी बढ़ती गयीं। संस्कृत ने समाज की इन आवश्यकताओं को पूरा किया। धर्म, अर्थ और काम— ये तीनों विषय उसी के फल हैं। इन नये शास्त्रों ने समाज में व्यवस्था बनायी। सबके अधिकारों का निर्धारण किया। सबके लिए न्याय और सुरक्षा का प्रबन्ध किया।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष हमारे यहाँ ये चार पुरुषार्थ कहे गये हैं। जनता के जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं के कारण इनको पुरुषार्थ नाम दिया गया। जीवन के लिए धर्म की जरूरत है। उसके बिना मनुष्य एक पग भी आगे नहीं बढ़ सकता। संसार के सब काम-काज अर्थ अर्थात् धन पर निर्भर हैं। धन के बिना संसार में जीवित नहीं रहा जा सकता है। काम मनुष्य की ही नहीं, सभी प्राणियों की आवश्यकता है। उसके बिना मनुष्य का जीवन सूना हो जाता है। चौथा पुरुषार्थ मोक्ष है। मोक्ष अर्थात् मुक्ति। जीवन और मरण का जो भव-बन्धन है उससे सदा के लिए छुटकारा पाने को ही मुक्ति कहा गया है।

धर्म, अर्थ और काम—समाज की ये तीनों जरूरतें पूरी होती रहें, उनमें किसी तरह की कमी-बेशी न हो, इसके लिए संस्कृत साहित्य में नियम-कानून बने हैं। ये नियम-कानून बड़े सोच-विचार कर बनाये गये हैं। आज हमारे देश का जो संविधान है उसको संस्कृत के धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र के आधार पर ही तैयार किया गया है।

इस तरह न्याय और कानून के रूप में हमारे वर्तमान संविधान में संस्कृत साहित्य के महान् सन्देश को सँजोकर रखा गया। इस रूप में संस्कृत इस देश की जीवनाधार बनी।

संस्कृत की एक धारा कलाओं के रूप में भी बही। इस रूप में भी संस्कृत ने जनता से अपना नाता जोड़ा। संगीत, नृत्य, मूर्ति और चित्र ये हमारी कलाएँ हैं। स्वर-ताल, मूर्ति-महल-मन्दिर और रेखाओं के रूप में कलाओं की यह वाणी भारत के जन-जीवन में सजीव हो उठी। जनता को उसने नयी प्रेरणा और नया उत्साह दिया। देश के पग-पग पर उसके संगम देखे जा सकते हैं।

कलाओं के साथ ही संस्कृत की धरा पर कविता का जन्म हुआ। महामुनि वाल्मीकि ने कविता की जो कल्याणी वाणी दी थी, उसको भास, कालिदास, भवभूति और बाण आदि ने आगे बढ़ाया। काव्य के साथ-साथ नाटक का भी जन्म हुआ। इन कवियों और नाटककारों ने समाज की अच्छाइयों और बुराइयों को परखा। उन्हें अपनी कलम की नोक पर उतारा। इस तरह उन्होंने समाज को बुराइयों से बचाया और अच्छाइयों पर लगाया।

काव्य और नाटकों के रूप में संस्कृत ने समाज को यह नया सन्देश दिया। कविता की वाणी में कही गयी समाज की अपनी बातों को समाज ने भरपूर अपनाया। इस तरह संस्कृत ने लोकवाणी की जगह पायी। उसकी लोकप्रियता को कथा-कहानियों ने आगे बढ़ाया। इन कथाओं में नीति, उपदेश और सदाचार की बातों को बड़ी सरल भाषा में प्रस्तुत किया गया है। वे पढ़ने वाले के मन पर प्रभाव डालती हैं। उनमें आमोद-प्रमोद और मनोरंजन की बातें भी हैं।

इस तरह संस्कृत साहित्य का यह महान् सन्देश हमारी संस्कृति के रूप में जीवित है। साहित्य, कला-कौशल और ज्ञान-विज्ञान की यह विपुल विरासत, जो इस देश को परम्परा से मिलती रही, संस्कृत की ही देन है। उसी के अमर सन्देश उसमें निहित हैं।

इस तरह संस्कृत साहित्य ने युग और परिस्थितियों के अनुसार समाज को नये-

नये सन्देश दिये। उसके ये सन्देश अजर-अमर हैं। जब तक यह मानवता रहेगी, तब तक वे उसके साथ बँधे रहेंगे।

इस चर्चा को पूरी करने से पहले हमें संस्कृत की पुरानी शिक्षा-पद्धति के बारे में भी कुछ जान लेना चाहिए। संस्कृत साहित्य में हमें गुरु-शिष्य के आदर्श सम्बन्धों का ऊँचा सन्देश मिलता है। शिक्षा के लिए तब आयु और जाति-पाँति का कोई भेद-भाव नहीं माना जाता था। गरीब और अमीर के बालक एकसाथ बैठकर शिक्षा पाते थे। पुरुषों की तरह नारियाँ भी ज्ञान में, विद्या में बढ़ी-चढ़ी थीं। हर तरह से वे पुरुषों का मुकाबला करती थीं। संस्कृत में इसके अनेक उदाहरण बिखरे पड़े हैं।

संस्कृत साहित्य हमें सादे, लेकिन सच्चा और स्वतन्त्र जीवन बिताने की सीख देता है। हमें यह सन्देश देता है कि जब तक जीएँ, सैकड़ों वर्षों तक स्वतन्त्र होकर रहें। संस्कृत साहित्य हमें जीवन की सच्चाइयों की शिक्षा देता है। वह हमें बताता है कि जीवन की उन्नति के लिए सच्चाई, सदाचार और अच्छा व्यवहार है। चरित्र का निर्माण करने के लिए जीवन में इन अच्छे गुणों का होना आवश्यक है।

गुरु-घरों की इन पाठशालाओं में हमें किताबी पढ़ाई ही नहीं, आहार, व्यवहार की भी शिक्षा दी जाती थी। परिवार में और समाज में हमारे सम्बन्ध कैसे होने चाहिए, उनका भी अध्ययन कराया जाता था। पुत्र का माता-पिता के प्रति, भाई-भाई के प्रति, पति-पत्नि के प्रति, बड़े, बूढ़ों के प्रति कैसा व्यवहार होना चाहिए, इसकी सीख गुरु-पीठों में ही दी जाती थी।

परिवार के साथ ही समाज के प्रति भी हरएक मनुष्य की अपनी जिम्मेदारियाँ होती हैं। पुराने गुरुकुलों मे जो पढ़ाई होती थी उनमें अच्छे नागरिक बनने और समाज के प्रति अपने कर्त्तव्यों को निबाहने की भी शिक्षा दी जाती थी।

संस्कृत साहित्य ही हमें शिक्षा के इस आदर्श रूप का सन्देश देता है वह भले ही पुराना पड़ चुका है। लेकिन आज भी हमें उसकी जरूरत है। विद्या से विनय की सीख हमें संस्कृत से ही मिली। यह विनय मानवता का भूषण है, सबसे बड़ा गुण है। इस गुण को पाने के लिए ही वर्षों तक छात्र अपने गुरुघरों में जीवन बिताते थे।

संस्कृत साहित्य ने हमको जो महान् सन्देश दिये उनमें सत्य का स्थान सबसे ऊँचा है। सच्चाई इस राष्ट्र की शक्ति रही है। बड़ी-बड़ी आपदाओं में भी सदा सत्य मार्ग पर चलने का बल हमें संस्कृत से ही मिला। सत्य क़ी धरती पर ही इस राष्ट्र की चेतना का जन्म हुआ। अतीत की तरह आज भी हमने सत्य को अपनाया है, अपना आदर्श स्वीकार किया है। आज हमारी राष्ट्र की वाणी है 'सत्य की ही जय होती है झूठ की नहीं'—

सत्यमेव जयते नानृतम्

इस प्रकार संस्कृत साहित्य हमें सच्चाई का रास्ता बताता है और लोक-कल्याण तथा विश्व मंगल का सन्देश देता है।

२

वैदिक काल

वेद भारतीय ज्ञान और संस्कृति के स्रोत हैं। वेदों में वैदिक काल के धर्म, दर्शन, संस्कृति, कला, काव्य, भूगोल, राजनीति आदि का ज्ञान सुरक्षित है। वैदिक काल का भारत ज्ञान-जीवी था। उस युग के आर्यों की सूझ-बूझ बड़ी ऊँची थी। उन्होंने जीवन के सभी पहलुओं पर विचार किया। उन्नति के सभी उपायों को खोजा और उन्हें जीवन में उतारा।

वैदिक राष्ट्र की सारी थाती के जनक थे ऋषि। उन्होंने वेदों को देखा। इसलिए उन्हें मन्त्रद्रष्टा कहा गया। इन ऋषियों ने वेदमन्त्रों को आगे के दूसरे ऋषियों को दिया। वेदमन्त्रों की इस महान् विरासत को ब्रह्मा की आज्ञा से पराशर के पुत्र कृष्णद्वैपायन व्यास ने चार संहिताओं में विभक्त किया। इन चार संहिताओं के आधार पर आगे के ऋषियों ने ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् की रचना की। ब्राह्मणों और आरण्यकों के रचयिता ऋषियों ने इस देश को धर्म-कर्म का महान् सन्देश दिया। उसका नैतिक निर्माण किया। उसे एकता के सूत्र में बाँधा। उपनिषदों के रचयिता ऋषियों ने इस धरती पर ज्ञान का आलोक फैलाया। जीवन की उन्नति का नया रास्ता बताया।

वैदिक युग के धर्म, कर्म, ज्ञान की इस त्रिवेणी का संगम हुआ उत्तर वैदिक युग में। इस ज्ञान संगम से नयी धाराएँ फूटीं, जिन्हें वेदांगों के नाम से अभिहित किया गया। इन वेदांगों के नाम हैं— शिक्षा, काव्य, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष। जीवन की आवश्यकताओं के साथ-साथ इन नये शास्त्रों और उपयोगी विद्याओं ने राष्ट्र का धरातल ऊँचा उठाया। जन-संगठन बने और जनपद-राज्यों का उदय हुआ। समाज की सुव्यवस्था और शान्ति के लिए नियम बने। उन्हें स्मृतियों का नाम दिया गया। ज्ञान की मौलिक परम्परा को पुस्तकों में लिखा गया जो आगे आने वाली पीढ़ियों के लिए एक अमूल्य निधि साबित हुई।

इन सभी बातों की जानकारी आगे वैदिक युग और उत्तर वैदिक युग में दी गयी है।

वैदिक युग

वेद

संस्कृत की यह कहानी वेदों से शुरू होती है। संस्कृत की ही क्यों, इस महान् राष्ट्र की, उसके विशाल साहित्य की कहानी का आरंभ भी वेदों से ही होता है।

भारत का हर व्यक्ति वेदों के बारे में कुछ-न-कुछ अवश्य जानता है। उन पर हमारा उतना ही विश्वास है, जितना कि ईश्वर पर। वे हमारे सबसे प्राचीन और पवित्र ग्रन्थ हैं। वेद 'कुरान' की तरह केवल धर्मग्रन्थ ही नहीं हैं और न तो 'बाइबिल' की तरह केवल सन्तों और महापुरुषों की वाणियाँ ही हैं। वस्तुतः वेद तो पूरा-का-पूरा साहित्य है। ऐसा साहित्य, जिसमें सारी मनुष्य जाति और जीवन के सभी पहलुओं पर विचार किया गया है।

वेद सत्य की कसौटी हैं, ज्ञान की कुंजियाँ हैं, जिनसे सारी मनुष्य जाति सत्यविद्या को जान सकती है, उन्हीं को 'वेद' कहा गया है। हमारी यह दुनिया, जिसमें हम रह रहे हैं, हमारा यह जीवन, जिसमें हम जी रहे हैं, हमारे यह अनगिनत काम-काज जिनको हम करते हैं, उनमें कहाँ तक सच्चाई है, और कहाँ तक झूठ है— ये सभी बातें हमको वेदों से जानने को मिलती हैं।

वेद हमारे ज्ञान-चक्षु हैं। ज्ञान-चक्षु अर्थात् ज्ञान की आँखें। अपनी इन आँखों से हम संसार को देखते हैं। लेकिन ज्ञान की आँखों से हम उसको देखते हैं, जिस पर यह संसार टिका हुआ है। वेदों में हम इस संसार का सही चित्र देखते हैं।

ज्ञान के कई प्रकार हैं यथा— इतिहास, भूगोल, विज्ञान, गणित आदि। लेकिन जिस ज्ञान की बात हम कर रहे हैं वह इससे भी बढ़ कर है। उसके भीतर ये सभी बातें तो अपने आप आ जाती हैं। ये सारे ज्ञान उसी के छोटे-छोटे भाग हैं। इस तरह 'वेद' वह ज्ञान है, जिसके पा जाने से इतिहास, भूगोल, विज्ञान आदि ज्ञान अपने आप मालूम हो जाते हैं। इसीलिए हमारे यहाँ वेदों को 'सर्वज्ञानमय' कहा गया है। सर्वज्ञानमय उसे कहते हैं, जिसको पा लेने से फिर कुछ भी पाना और जानना शेष नहीं रह जाता।

ज्ञान की यह विरासत कई युगों और पीढ़ियों से होकर हमें मिली। इसको आगे बढ़ाने का काम किया ऋषि वंशों ने। युगों तक वे ऋषियों के कण्ठ में रहे। पुस्तकों के रूप में लिखकर नहीं, मौखिक वे आगे बढ़ते रहे। इसीलिए उनका एक नाम 'श्रुति' पड़ा। 'श्रुति' अर्थात् जो सुने गये। वे एक की जिह्वा से दूसरे के कानों और उनके द्वारा तीसरे तक पहुँचे। इस तरह वे पीढ़ी दर पीढ़ी युगों तक मौखिक पढ़े और जाने जाते रहे।

जिन ऋषियों ने इस ज्ञान की विरासत को आगे बढ़ाया, उनके बारे में भी कुछ जान लेना चाहिए। 'ऋषि' एक उपाधि है। जिन लोगों ने सबसे पहले वेदों को देखा या जाना उन्हें 'ऋषि' कहा गया। उन्होंने इस वेद-विद्या को परमात्मा से सुना और लोक की भलाई के लिए उसे संसार में फैलाया।

वे ऋषि बहुत बड़े ज्ञानी थे। तीनों लोकों की बातों को जानते थे। उन्होंने जो देखा और सुना उसको वैसे-का-वैसा अपने कण्ठ में सँजोकर रखा। उन्होंने ही वेद-मन्त्रों को एक-साथ किया। ये ऋषि उस युग के ग्रन्थ थे।

चार वेद और उनकी चार संहिताएँ

ऋषियों की बाद की पीढ़ी यह महसूस करने लगी कि वेदों के इस विशाल भण्डार को मौखिक याद रखना सम्भव नहीं है। अतः इन मिले-जुले वेद-मन्त्रों को

उन्होंने क्रमशः चार भागों में बाँटा। तब उनके नाम हुए—

१. ऋग्वेद, २. यजुर्वेद, ३. सामवेद और ४. अथर्ववेद। कृष्णद्वैपायन वेदव्यास ने इन चारों वेदों को अपने चार शिष्यों को दिया। उनके नाम थे—पैल, वैशम्पायन, जैमिनी और सुमन्तु। इन चारों ऋषियों ने चारों वेदों को लिखा। उनके सैकड़ों शिष्यों ने उनको लोगों में फैलाया। जिस ऋषि ने जिस वेद की शाखा को आगे बढ़ाया उसके नाम से उस शाखा का नाम भी पड़ा।

इन शाखाओं के बारे में भी कुछ जान लेना चाहिए। पुराने जमाने में पढ़ाई-लिखाई का काम ऋषियों के आश्रमों में हुआ करता था। राजा हो या रंक, सभी के बालक आश्रमों में एक-साथ पढ़ते-लिखते थे। ये आश्रम जंगलों में हुआ करते थे। इस प्रकार के कई आश्रम थे। वे ही उस युग के विद्यापीठ थे।

इन आश्रमों में अलग-अलग वेदों की पढ़ाई होती थी। जिस आश्रम में जिस वेद की पढ़ाई होती थी उसी वेद के नाम पर उसकी शाख या शाखा बनती थी। जिस तरह एक पेड़ की कई शाखाएँ होती हैं। उसी तरह वेद की चार शाखाएँ बनीं। ये शाखाएँ ही उन ऋषियों की पीढ़ियाँ बनीं। जिस पीढ़ी ने जो वेद पढ़ाया उस पीढ़ी को उस नाम से कहा गया। वेद की इन शाखाओं के नाम से ऋषियों की पीढ़ियों का नामकरण हुआ।

चारों वेदों का विभाजन होने के बाद उनकी चार संहिताएँ बनीं। इन चार संहिताओं के नाम हैं— १. ऋग्वेद संहिता, २. यजुर्वेद संहिता, ३. सामवेद संहिता और ४. अथर्ववेद संहिता। संहिता कहते हैं संकलन को। उनको संहिता इसलिए कहा गया कि उनमें मन्त्रों को छाँट कर विषय के अनुसार क्रमवार लगाया गया था।

वेद संहिताओं का विषय

चारों संहिताओं में ऋग्वेद संहिता पुरानी मानी जाती है। शेष तीनों संहिताओं में ऋग्वेद के कई मन्त्र पाये जाते हैं। पूरा ऋग्वेद आठ भागों में है, जिन्हें 'अष्टक' कहा जाता है। एक अष्टक में आठ अध्याय हैं। इस तरह ऋग्वेद में चौंसठ अध्याय हैं।

ऋग्वेद में कई बातें लिखी हुई हैं। उसमें ऋषियों के वंशों और परिवारों की कथाएँ हैं। सोमरस और यज्ञ की बातें हैं। देवताओं की प्रार्थना की गयी है। प्रकृति की शक्ति को देवत्व प्राप्त कराया गया है।

यजुर्वेद संहिता में विशेषकर यज्ञ की बातें कही गयी हैं। यज्ञ देवताओं की प्रसन्नता के लिए किये जाते थे। उनमें राष्ट्र के कल्याण के लिए प्रार्थना की गयी है। 'हे पितृ देवो, नमस्कार! आपकी कृपा से वसंत ऋतु राष्ट्र को सुखी करे! हे पितरो, नमस्कार! आपकी कृपा से देश के लिए ग्रीष्म ऋतु अनुकूल हो!' इस तरह देश के कल्याण और सुख के लिए यज्ञ किये जाते थे।

सामवेद संहिता में भी देवताओं की प्रसन्नता के लिए मन्त्र गाये गये हैं। 'साम' का मतलब है सुन्दर, सुखकर वाणी। संगीत विद्या को सबसे सुन्दर और सुखकर माना

गया है। इसलिए 'साम' का दूसरा नाम संगीत या गान भी है। सामवेद संहिता में ऐसे मन्त्र हैं, जिनको गाकर पढ़ा जाता है। सामवेद से ही हमारे संगीतशास्त्र का जन्म हुआ।

अथर्ववेद संहिता के मन्त्र कई तरह के हैं। उनमें कुछ मन्त्र तो वशीकरण, मोहन, मारण और उच्चाटन के हैं। कुछ मन्त्र ऐसे हैं, जिसमें तन्त्र, टोटका और औषधियों के बारे में कहा गया है। कुछ मन्त्रों में देवताओं की स्तुति है।

वेद संहिताओं का समय

हमारे यहाँ वेदों को अपौरुषेय कहा गया है। अपौरुषेय अर्थात् जिनको किसी पुरुष या मनुष्य ने नहीं बनाया। यह माना जाता है कि वेदों को किसी ने नहीं रचा। वे स्वयं ही पैदा हुए। वे कब पैदा हुए, इसका भी कोई समय नहीं है।

हमारे इस विश्वास के बावजूद कुछ लोगों का कहना है कि वेदों का भी एक समय है। उनका यह समय हम कई बातों के आधार पर तय कर सकते हैं। जैसे उनमें जो बातें कही गयी हैं, वे जिस भाषा में लिखे गये हैं, उनको लिखने को जो तौर-तरीके या शैली है, ये सब बातें हमें यह बताती हैं कि वेदों का एक समय था। इस समय को इतिहासकारों नें अलग-अलग बताया है।

इस बारे में जो बातें कही गयी हैं वे बहुत विस्तार से हैं। उन पर पूरी की पूरी पुस्तकें लिखी गयी हैं। इन पुस्तकों में कई तरह की बातें हैं। इन लोगों का कहना है कि वेद बहुत पुराने समय में ही बन गए थे। उनको बने आज लगभग बत्तीस हजार वर्ष हो रहे हैं। ये बातें ऐसी हैं, जो कि बहुत उलझी हुई हैं। उनको पूरी तरह से पढ़े बिना उनके बारे में कोई एक राय नहीं बनायी जा सकती है।

वेद और उनकी चार संहिताओं के बन जाने के बाद ज्ञान की यह विरासत आगे बढ़ी। उनकी कई शाखाएँ प्रकाश में आईं। इन सभी ज्ञान शाखाओं की चर्चा वैदिक साहित्य में की गयी है। वेदों की चारों संहिताओं के बारे में जो कुछ लिखा गया उसी को 'वैदिक साहित्य' के नाम से कहा जाता है।

वैदिक साहित्य

संस्कृत की यह कहानी वेदों के बाद वैदिक साहित्य के रूप में आगे बढ़ी। चारों वेदों की चार संहिताएँ बन जाने के बाद उन पर आगे जितना भी काम हुआ, उसको 'वैदिक साहित्य' के नाम से जाना जाता है।

वेदों के बारे में बाद के ऋषियों ने जो कुछ लिखा उसकी सीमाएँ बहुत फैली हुई हैं। इस वैदिक साहित्य के भीतर ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् और छः वेदांगों को गिना जाता है। इनके बारे में हमें कुछ विस्तार से जान लेना चाहिए। उनको जान लेने के बाद वेदों के बारे में बहुत सारी बातें हमारे सामने आती हैं।

ब्राह्मण

वैदिक साहित्य में ब्राह्मणों का नाम पहले आता है। चारों वेद संहिताओं के बाद जो ग्रन्थ लिखे गये उन्हीं का नाम पड़ा 'ब्राह्मण'। इनका 'ब्राह्मण' नाम क्यों पड़ा, इस

बारे में कई बातें कही जाती हैं। कुछ लोगों का कहना है कि ब्राह्मण पुरोहितों की निजी पुस्तकें होने के कारण उनको 'ब्राह्मण' कहा गया। लेकिन यह बात ठीक नहीं बैठती।

संस्कृत में 'ब्रह्म' कहा गया है यज्ञ के लिए। जिन पुस्तकों में यज्ञ-हवन आदि कार्यों के नियम या तौर-तरीके बताये गये हैं उन्हें 'ब्राह्मण' कहा गया है। ब्राह्मण ग्रन्थों में यही बातें बतायी गयी हैं। इसीलिए उनका ऐसा नाम पड़ा। ब्राह्मण पुरोहितों की पुस्तकें होने के कारण उनको 'ब्राह्मण' नहीं कहा गया है।

वेदों का वह भाग, जिसमें यज्ञों के बारे में कहा गया है, ब्राह्मण ग्रन्थों का विषय है। यज्ञ किसे कहते हैं और यज्ञ करने का क्या लाभ है, इस बात को जान लेना चाहिए। हमारे यहाँ यह माना गया है कि यज्ञ करने से मनुष्य के सब दोष धुल जाते हैं। उसके बुरे कर्म दूर हो जाते हैं।

इसके अलावा यज्ञ करने के दूसरे भी लाभ हैं। यज्ञ इसलिए किया जाता है कि उससे जनता सुखी रहे और उसका कल्याण हो। यज्ञ में घी की जो हवि दी जाती है उसे हवा उड़ाकर आकाश की ओर ले जाती है। वह सारे आकाश में फैलकर सूर्य तक पहुँचती है। सूर्य की किरणों को पाकर वह बादलों के रूप में बदल जाती है। ये ही बादल वर्षा के रूप में धरती को सींचते हैं। उससे धरती अन्न और अनेक सम्पदाएँ पैदा करती है।

इस तरह यज्ञ से जनता को सुखमय जीवन मिलता है। इसके अलावा यज्ञ की हवि से देवता खुश होते हैं। खुश होकर वे यज्ञ करने वाली जनता का कल्याण करते हैं।

'ब्राह्मण' ग्रन्थों में यही बातें बतायी गयी हैं। इसके अलावा उनमें पुराने जमाने की वे कथा-कहानियाँ भी हैं, जो उस युग के समाज में सुनी और सुनाई जाती थीं। ये कहानियाँ कई तरह की हैं। कुछ तो कवियों की हैं, कुछ आचार्यों तथा गुरुओं की, कुछ राजा-महाराजाओं की, कुछ ज्ञान-ध्यान की और कुछ क्रिया-कर्मों की।

आरण्यक

ब्राह्मणों के बाद वैदिक साहित्य के दूसरे भाग हैं आरण्यक। एक प्रकार से आरण्यक भी ब्राह्मणों के ही अंश हैं। ब्राह्मणों में धर्म-कर्म की बातें गृहस्थ लोगों के लिए कही गयी हैं। आरण्यकों में वे ही बातें वानप्रस्थियों के लिए कही गयी हैं। इन दोनों में यही अन्तर है। शेष बातें दोनों में एक जैसी हैं।

अरण्य कहते हैं जंगल के लिए। अरण्यों अर्थात् जंगलों में पढ़े जाने के कारण उनको 'आरण्यक' नाम से कहा गया। हमारे यहाँ जीवन के चार आश्रम या चार अवस्थाएँ बतायी गयी हैं। उनके नाम हैं— ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। इस तरह वानप्रस्थ जीवन की तीसरी अवस्था है। इस अवस्था या आश्रम में जीवन बिताने वाले लोगों को जप, तप, यज्ञ, महाव्रत आदि कर्म कैसे करने चाहिए, इन्हीं बातों का 'आरण्यक' ग्रन्थों में विस्तार से वर्णन किया गया है। कर्मों की चर्चा होने के कारण उनको 'कर्मकाण्ड' भी कहा जाता है। उनमें ज्ञान की भी बातें हैं। आरण्यकों में वर्णाश्रम धर्म का पूर्ण विकास देखने को मिलता है।

ब्राह्मणों और आरण्यकों का युग

ब्राह्मणों और आरण्यकों को कब लिखा गया। इस बारे में ठीक-ठीक कहना सम्भव नहीं। प्रायः ब्राह्मण और आरण्यक ग्रन्थों को लगभग उतना ही पुराना माना जाता है, जितना कि वेद। यही नहीं, उनकी पवित्रता और महानता भी वेदों से कुछ कम नहीं है। कुछ कवियों ने तो उन्हें भी 'वेद' नाम से कहा है।

इन पुस्तकों पर भारत के और विदेश के कई लोगों ने काम किया है। उनकी एक-एक बात को लेकर उस पर पर्याप्त खोजबीन की है। इस खोजबीन में कुछ पुस्तकें ऐसी भी मिली हैं, जिनमें पुराने राजाओं के वंश दिए गये हैं। उदाहरण के लिए, कुरु राजाओं के बारे में कुछ बातें पायी जाती हैं। पुराणों में इस कुरु वंश के बारे में बहुत लिखा गया है।

इसी तरह ब्राह्मणों और आरण्यकों में राम-कथा, पुरुरवा-उर्वशी-कथा और अश्विनी कुमारों की कथाएँ भी लिखी हुई हैं। इन कथाओं का वहाँ इतिहास के रूप में वर्णन है। इनमें ऐसे समाज और ऐसी संस्कृति के विषय में कहा गया है, जो पुराणों से भी पहले की हैं। पुराणों में उनकी कथाओं को कुछ नए तरीके से कहा गया है।

उपनिषद्

उपनिषद् वैदिक साहित्य के अन्तिम भाग हैं। वेदों के अन्तिम भाग होने के कारण उनको वेदान्त भी कहा गया है। वेदान्त अर्थात् वैदिक युग के ज्ञान की वह अन्तिम थाती, जिससे बढ़कर विचार फिर किसी युग में देखने को नहीं मिले। इसीलिए उन्हें 'उपनिषद्' कहा गया। उपनिषद् अर्थात् ज्ञान के पिटारे। ब्राह्मणों और आरण्यकों के बाद उपनिषदों का स्थान माना गया है।

'उपनिषद्' उनको क्यों कहा गया। इस बारे में कुछ बातें कही गयी हैं। कहा गया है कि उपनिषद् एक विधा है। ऐसी विधा जो सभी तरह के अनर्थों का नाश करती है। सभी प्रकार के अज्ञान को दूर भगाती है और जिससे परमात्मा के बारे में जानकारी प्राप्त होती है। इस तरह की विधा को 'उपनिषद्' कहा गया है।

उपनिषदों की संख्या बहुत है। लेकिन आज जिनको मुख्य रूप से अपनाया जाता है वे केवल ग्यारह हैं। उनके नाम हैं— १. ईशावास्योपनिषद्, २. केनोपनिषद्, ३. कठोपनिषद्, ४. प्रश्नोपनिषद्, ५. मुण्डकोपनिषद्, ६. माण्डूक्योपनिषद्, ७. तैत्तिरीयोपनिषद्, ८. ऐतरेयोपनिषद्, ९. छान्दोग्योपनिषद्, १०. वृहदारण्यकोपनिषद् और ११. श्वेताश्वतरोपनिषद्।

ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् ये तीनों संहिताओं से निकले। इसलिए तीनों का वर्ण्य-विषय सम्बद्ध है। लेकिन उनके कहने का तरीका अलग-अलग है। इसके अलावा उनसे जो कुछ कहा गया है वह भी एक जैसा नहीं है।

वेदों में तीन तरह की बातें कही गयी हैं। कुछ बातें धर्म-कर्म की, कुछ जप-तप एवं उपासना की, और कुछ ज्ञान-ध्यान तथा चिन्तन-मनन की। वेदों की इन तीनों

बातों को लेकर वैदिक साहित्य में तीन अलग-अलग धाराएँ बहीं। वेदों में कही गयी धर्म-कर्म की बातों को लेकर ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना हुई। एकान्त उपासना की भावना को लेकर आरण्यक बने और ज्ञान की बातों को लेकर उपनिषद् लिखे गये।

वेदों को जिन ऋषियों ने पाया या देखा उन्हीं ने ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् भी लिखे। इस तरह ऋषियों के तीन समूह बन गये। अपने कार्यों से ही नहीं, विचारों से भी वे अलग वर्गों में बँट गये। ब्राह्मण ग्रन्थों के रचयिता ऋषियों ने यहाँ तक छूट दे दी कि यज्ञ में पशुओं का मारना पाप नहीं है। कुछ ऋषियों ने इसका विरोध किया। उन्होंने लोगों को ब्राह्मण पुस्तकों के कर्म से हट कर ज्ञान पर चलने की सलाह दी। इस तरह ऋषियों के दो वर्ग बन गये। इसी कारण उपनिषदों का जन्म हुआ।

उपनिषदों में ब्रह्मविद्या एवं ज्ञान की बातें बतायी गयी हैं। ब्रह्म अर्थात् परमात्मा, ईश्वर। परमात्मा क्या है? इस संसार को बनाने में उसका क्या हाथ है? यह आत्मा और शरीर क्या है। ये बातें उपनिषदों में कही गयी हैं। उनमें कहा गया है कि यह संसार अविद्या या अज्ञान के कुहासे से ढका हुआ है। उसका असली रूप हमको तभी दिखाई दे सकता है, जब इस अज्ञान के कुहासे को हम मिटा दें। इस अज्ञान के कुहासे को ज्ञान और विद्या के प्रकाश से मिटाया जा सकता है। विद्या (ब्रह्मविद्या) और ज्ञान की ही बातें उपनिषदों में कही गयी हैं।

इसके अलावा उपनिषदों में कुछ और भी बातें हैं। उनमें अच्छे काम करने और ऊँचा चरित्र बनाने की भी बातें बतायी गयी हैं। उनमें सदा सच बोलने पर बल दिया गया है। अच्छे काम करने और सच बोलने का क्या फल होता है, इस बारे में तरह-तरह के उदाहरण दिये गये हैं। इस तरह उपनिषदों से हमें ज्ञान के साथ चरित्र की भी शिक्षा मिलती है।

उपनिषदों के कहने की अपनी शैली है। अपने अलग तौर-तरीके हैं। उनमें ज्ञान की गंभीर बातों को सवाल-जवाब के तरीके से समझाया गया है। इसी तरह छोटी-छोटी कहानियों के जरिये आत्मा और परमात्मा के रहस्यों को कहा गया है। उनमें सामाजिक बातें भी हैं। उपनिषदों की ये कहानियाँ हमें ज्ञान के अलावा शिक्षा और उपदेश की बातें भी बताती हैं। उनमें चरित्र को ऊँचा उठाने का भी सन्देश है।

उपनिषदों ने हमारे साहित्य को नयी दिशाएँ दीं। इस देश के जन-जीवन को नया सन्देश दिया। इसलिए उपनिषदों को हमारे यहाँ नये युग का निर्माता कहा गया है।

ऊपर बताया गया है कि संहिताओं में निहित ज्ञान की बातों को उपनिषदों में कहा गया है। संहिताओं और उपनिषदों में कुछ बातें ऐसी भी हैं, जिनकी आपस में संगति प्रतीत नहीं होती। जीवन की जो मान्यताएँ हैं उन्हें दोनों में अपने-अपने ढंग से कहा गया है और सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर दोनों का सामंजस्य हो जाता है।

संहिताओं के युग से अगर हम उपनिषदों के युग का मिलान करते हैं तो ये बातें हमें साफ दिखायी देती हैं। हमें दिखायी देता है कि वेदों का युग सुख और समृद्धि का युग रहा है। आत्मा क्या है, शरीर क्या है, संसार की सही दशा क्या है,

अच्छे और बुरे कर्मों का फल क्या होता है, इन सब बातों के बारे में संहिताओं में विवेचन नहीं किया गया है। इन सब बातों पर बारीकी से विचार किया गया है उपनिषद् में।

जन्म और मरण जीवन के दो ऐसे नियम हैं, जिनको मिटाया नहीं जा सकता है। जीवन और मरण की समस्या को उपनिषदों ने उठाया और उसका गम्भीर विवेचन किया। इस विवेचन-बीज से जो वृक्ष पैदा हुआ उसने जीवन की अच्छाइयों को सामने रखा।

यही नहीं, धर्म की जिस ऊँचाई और उदारता को संहिताओं ने बताया था, ब्राह्मण युग के पुरोहितों ने उसको छोटा बना दिया, एक दायरे में बन्द कर दिया। उपनिषदों ने धर्म के इस प्रश्न को फिर से उठाया। उस पर नये तरीके से विचार किया। उन्होंने संकीर्णता का विरोध किया और समाज को एक नया धार्मिक और आध्यात्मिक दृष्टिकोण दिया।

उपनिषदों का यह युग विचारों की क्रान्ति का युग कहा जाता है। इस देश के विशाल साहित्य में विचारों की इतनी उथल-पुथल कभी नहीं हुई। उपनिषदों के विचारों का यह संघर्ष इतना बढ़ा कि हमारे साहित्य में ज्ञान की नयी-नयी दिशाएँ चमक उठीं। हमारे दर्शन उसी विचार के फल हैं। उपनिषद् और दर्शन इस देश के गम्भीर चिन्तन और मनुष्य के ऊँचे विचारों का फल हैं।

भारतीय साहित्य पर वेद, ब्राह्मण और उपनिषद् इन तीनों युगों की अपनी अलग-अलग छाप है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि संहिताओं के ऋषि कवि-हृदय थे। ब्राह्मणों को बनाने वाले ऋषि धर्म-कर्म को मानने वाले थे और उपनिषदों को रचने वाले ऋषि सन्त एवं विचारक थे।

उपनिषदों का युग

उपनिषद् कब लिखे गये? इसका ठीक-ठीक समय बताना कठिन है। उपनिषदों में जो बातें कही गयी हैं वे बहुत पुरानी हैं। वे उतनी ही पुरानी हैं, जितनी कि संहिता में। इसलिए उनके समय का कोई अनुमान नहीं है। इनके अलावा कुछ उपनिषदों का रूप ऐसा है जिन पर बहुत बाद की परिस्थितियों का प्रभाव है। इसलिए कुछ उपनिषद् बहुत पहले बने और कुछ बहुत बाद में।

मोटे तौर पर यह माना गया है कि उपनिषदों को पुस्तक-रूप में लिखा जाना आज से लगभग पाँच हजार वर्ष पहले शुरू हुआ। वे पाँचवीं, छठीं शती अर्थात् आज से तेरह-चौदह सौ वर्षों पहले तक लिखे जाते रहे।

मोटे तौर पर उपनिषदों के युग की यही सीमाएँ हैं।

उपनिषदों में समाज की एकता के बीज

हमारे देश में अनेक धर्मों और जातियों के लोग रहते हैं। उनके अलग-अलग विचार और आचार हैं। सभी के धर्मों और विचार-आचारों का आदर करना हमारे देश का आदर्श रहा है। इतिहास हमें बताता है कि धर्म की बातों को लेकर हमारा देश सदा

उदार रहा है। आज भी हमारे राष्ट्र का कोई एक धर्म नहीं। यहाँ सभी धर्मों और लोगों को सभी तरह की स्वतन्त्रता है।

उपनिषदों में हमें धर्म की इस उदारता के बीज देखने को मिलते हैं। अपनी इस उदारता के कारण सारे समाज को एकता के सूत्र में बाँधने के लिए उन्होंने बड़ा काम किया। इस देश के अलग-अलग धर्मों के लोगों को उपनिषदों ने एकसाथ मिलकर रहने में बड़ी सहायता की। यही कारण है कि हिन्दू ही नहीं अपितु अन्य धर्मों के अनुयायी विचारकों ने भी उपनिषदों को अपनाया और उनकी विवेचना की।

शाहंशाह अकबर और उसके पोते दाराशिकोह को उपनिषदों से बड़ा प्रेम था। अकबर ने हिन्दू पण्डितों से उपनिषदों को सुना था। बाद में उन्होंने 'गीता' और 'योगवाशिष्ठ' आदि पुस्तकों का फारसी में तर्जुमा (अनुवाद) भी करवाया।

अकबर के पोते और शाहजहाँ के बड़े पुत्र दाराशिकोह का नाम बड़े आदर से याद किया जाता है। इस राजकुमार पर उपनिषदों का इतना प्रभाव पड़ा कि वह सल्तनत को त्याग कर सन्त बन गया। उसने संस्कृत पढ़ी। उपनिषदों को पढ़ा। उसने अपने सारे जीवन में भारतीय ज्ञान और कला को अपना सम्बल बनाया।

शाहजादा दारा ने १६४० ई. में काश्मीर में सारे देश के संस्कृत पण्डितों और सूफी सन्तों की एक सभा बुलायी थी। उसमें संस्कृत और फारसी के सभी जाने-माने लोग सम्मिलित हुए। उस सभा में पूरे छः मास तक उसने उपनिषदों को सुना था।

उसके बाद उसने 'सिर्रे अकबर' अर्थात् 'महारहस्य' के नाम से पचास उपनिषदों का संग्रह किया। उनका फारसी में अनुवाद करवाया। स्वयं भी उसमें भाग लिया। यह उसका बहुत बड़ा काम था।

उपनिषदों के आधार पर दारा ने 'मजमा-उल-बहरैनी' नाम से एक अच्छी पुस्तक लिखी। इसमें उसने हिन्दू-मुसलमानों की एकता की बातें लिखीं। उसने हिन्दुओं के ज्ञान की बड़ी प्रशंसा की। उसने संसार को चुनौती देते हुए लिखा कि हिन्दुओं के धर्म का संसार का कोई भी धर्म मुकाबला नहीं कर सकता है।

संसार के लोगों द्वारा उपनिषदों की प्रशंसा

शाहंशाह अकबर और उसके पोते दारा के अलावा संसार के सैकड़ों लोगों ने उपनिषदों की बड़ी प्रशंसा की। दारा ने 'सिर्रे अकबर' के नाम से जो पुस्तक लिखी थी उसका विदेशों में बड़ा प्रचार हुआ। संसार की कई भाषाओं में उसका अनुवाद हुआ। उसको देखकर संसार के लोग उपनिषदों की ओर झुके। उन्होंने मूल उपनिषदों को देखने के लिए संस्कृत पढ़ी। इसके लिए वे भारत आये। यहाँ उन्होंने संस्कृत के पण्डितों से उपनिषदों को समझा।

इन विदेशी लोगों ने अंग्रेजी, जर्मन, फ्रेंच और लैटिन आदि कई भाषाओं में उपनिषदों का अनुवाद किया। इस तरह संसार के कोने-कोने में उपनिषदों का महान् ज्ञान पहुँचा। उनको पढ़कर संसार के लोगों को भारत के बारे में जानकारी हुई। उन्होंने

भारत की प्रशंसा की। उनमें कुछ लोग तो ऐसे हुए कि उन्होंने अपना सारा जीवन उपनिषदों के पढ़ने पर बिता दिया। ऐसे अध्येताओं में जर्मन लोग अधिक थे।

इस तरह उपनिषदों के द्वारा हमारे देश का नाम संसार में फैला। हमारे देश की प्रतिष्ठा बढ़ी। हमारा देश एकता के सूत्र में बँधा। हमारे लिए और संसार के लिए उपनिषदों की यह सबसे बड़ी देन है।

उत्तर वैदिक युग

वेद के छः अंग (षड् वेदांग)

संस्कृत की इस लम्बी कहानी का प्रारम्भ संहिताओं से हुआ। उसके बाद वैदिक साहित्य के द्वारा यह कहानी आगे बढ़ी है। इस कहानी में आगे-आगे नये मोड़ आते गए। उसमें नये-नये परिवर्तन हुए। उसमें छः वेदांगों के जुड़ जाने से उसकी सीमाएँ बहुत बढ़ गयीं। साथ ही साहित्य की अनेक नयी दिशाएँ भी प्रकाश में आईं।

वेदों की चर्चा करते समय हमने वेदव्यास के बारे में पढ़ा। वेदव्यास महाज्ञानी थे। उनके समय से गुरु-शिष्यों की पीढ़ी-दर-पीढ़ी से संस्कृत की विरासत आगे बढ़ती गयी। संहिताओं और उनके बाद रचे गये ब्राह्मणों, आरण्यकों और उपनिषदों के बाद वेदांगों का युग आया। इस युग ने नये विचार और नयीं बातें सामने रखीं। इतिहास में इस नये युग को 'उत्तर वैदिक युग' के नाम से कहा गया। इस युग में छः नये शास्त्रों का निर्माण हुआ। उनके नाम हैं— १. शिक्षा, २. कल्प, ३.व्याकरण, ४. निरुक्त, ५. छन्द और ६. ज्योतिष। इन छः नये शास्त्रों को वेद भगवान् के छः अंग कहा जाता है। शिक्षा उनकी नाक है, कल्प हाथ, व्याकरण मुख, निरुक्त कान, छन्द पैर और ज्योतिष आँखें।

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते॥
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य, मुखं व्याकरणं स्मृतम् ।
तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते ॥

(पा. शिक्षा, श्लोक ४१-४२)

इस 'उत्तर वैदिक युग' की सीमा आज से लगभग साढ़े तीन हजार वर्ष पहले मानी गयी है। उसके बाद बारह-तेरह सौ वर्षों तक उस पर काम होता रहा। इस हिसाब से उत्तर वैदिक युग की सीमाएँ हम पन्द्रह सौ वर्ष ईसा पूर्व से लेकर ईसा पूर्व तीसरी शती के बीच रख सकते हैं।

१. शिक्षा

वेद के छः अंगों में 'शिक्षा' का स्थान प्रथम है। हमारे यहाँ यह माना गया है कि मुख से जो कुछ कहा जाय वह शुद्ध या सही हो। विशेषकर वेद-पाठ करते समय इसका बड़ा ध्यान रखा जाता है। वेद-मन्त्रों को गा-गा कर पढ़ने का नियम है। उस पर बड़ा ध्यान दिया जाता है। उसमें इतनी सावधानी बरतनी पड़ती है कि कहीं गलत न हो

जाय। अगर कहीं गलती हो गयी तो उसका फल बुरा होता है। वेद-मन्त्रों के अशुद्ध उच्चारण से उनका अर्थ भी गलत हो जाता है। इससे उनका फल भी बुरा होता है। इसके अलावा अच्छी तरह से जाना और कहा गया एक ही शब्द स्वर्गलोक और इस लोक, दोनों की कामनाएँ पूरी कर देता है। मन्त्रों के शुद्ध उच्चारण के लिए यही विधि अपनाई जाती है। एक-एक अक्षर और शब्द को उसके नियम के अनुसार कैसे कहा जाना चाहिए, इसको बताने के लिए 'शिक्षाशास्त्र' का निर्माण हुआ।

शिक्षाशास्त्र का काम है शुद्ध स्वर-विधियों को बताना। नासिका, स्वरों के संयम का स्थान है। इसलिए शिक्षा को वेद की नासिका कहा गया है। कल्पसूत्रों में यज्ञ-यागादि, हवन-पूजन की विधियाँ हैं। ये विधियाँ हाथों से होती हैं। इसलिए कल्प को वेद का हाथ कहा गया है। व्याकरणशास्त्र में शब्द ज्ञान और भाषा के सम्बन्ध में बताया गया है। शब्द और भाषा का प्रयोग मुख से होता है। इसलिए व्याकरण को वेद का मुख कहा गया है। निरुक्त में कठिन वैदिक शब्दों के अर्थ बताये गये हैं। यह अर्थज्ञान कानों के द्वारा बुद्धि तक पहुँचता है। इसलिए निरुक्त को वेद का कान कहा गया है। छन्दशास्त्र में वैदिक मन्त्रों की लय-गति की विधि बतायी गयी है। लोक में लय और गति के साधन पैर हैं इसीलिए छन्द को वेद का पैर कहा गया है। इसी प्रकार ज्योतिषशास्त्र में काल या समय की गतिविधियों का वर्णन है। समय को देखकर ही सारे काम किये जाते हैं। इसलिए ज्योतिष को वेद की आँखें कहा गया है।

शिक्षाशास्त्र में छः तरह के नियम बताये गये हैं। पहली बात यह बताई गई है कि जो अक्षर मुख के जिस स्थान से कहा जाना चाहिए वह वैसा ही कहा जाय। उदाहरण के लिए, 'स' की जगह 'श' का उच्चारण नहीं होना चाहिए। दूसरी बात यह कि जो कुछ कहा जाय उसमें कहाँ-कहाँ पर धीरे और कहाँ-कहाँ पर जोर देना चाहिए। तीसरी बात यह कि मात्राएँ कहाँ पर लघु और कहाँ पर गुरु होनी चाहिए। चौथी बात यह कि किन-किन शब्दों तथा मात्राओं को कहने में कहाँ पर अधिक बल दिया जाना चाहिए। पाँचवीं बात यह कि जो कुछ कहा जाय उसमें मिठास होना चाहिए जो कि सुनने में अच्छा लगे। छठीं बात यह कि कहाँ पर शब्दों को मिलाकर और कहाँ पर अलग-अलग करके पढ़ना चाहिए।

शिक्षाशास्त्र में बताये गये इन छः नियमों के अनुसार ही वेद-मन्त्रों को पढ़ा जाता है। इसलिए यह आवश्यक है कि वेद-मन्त्रों को पढ़ने से पहले शिक्षाशास्त्र की पूरी जानकारी होनी चाहिए।

२. कल्प या कल्सूत्र

छः वेदांगों में शिक्षा के बाद कल्पसूत्रों का दूसरा नाम है। जिन पुस्तकों में धर्म-कर्म के नियमों को बताया गया है उन्हें 'कल्पसूत्र' कहा जाता है। इन कल्पसूत्रों से संस्कृत में नये युग का निर्माण हुआ। 'उत्तर वैदिक युग' में जो अनेक विषयों की पुस्तकें लिखी गयीं उनको कल्पसूत्रों से बड़ी प्रेरणा मिली।

कल्पसूत्रों को बनाने वाले हमारे पुरखों का एक विशेष ध्येय था। वेदों और वैदिक साहित्य में अब तक जितनी बातें बतायी गयी थीं उन सब को याद रखना सम्भव नहीं था। इस कठिनाई को दूर करने के लिए 'कल्पसूत्र' बने। वेदों और उनके बारे में कही गयी ब्राह्मण-ग्रन्थों की बातों को 'कल्पसूत्रों' में संक्षेप करके लिखा गया। इससे पढ़ने वालों को कई लाभ हुए। पहला लाभ तो यह हुआ कि 'गागर में सागर' की तरह कल्पसूत्रों की संक्षिप्त बातों को कण्ठस्थ करने में सरलता हुई। दूसरे, लम्बी-चौड़ी बातों को थोड़े ही में कहने और समझने में समय की भी बचत हुई। कल्पसूत्रों की यह सबसे बड़ी देन है कि उनमें कम-से-कम शब्दों में अधिक से अधिक बातें कही गयी हैं। कल्पसूत्रों ने कर्मकाण्ड की पद्धति को समझाने का महत्वपूर्ण कार्य किया।

इसके अलावा अब तक वैदिक संस्कृत में जो-कुछ कहा गया था और इस तरह जितना भी ज्ञान हमारे सामने आ चुका था उसको कहने तथा पढ़ने का ढंग कुछ कठिन था। उनकी भाषा, उनके लिखने का ढंग, उनमें जो बातें कही गयी थीं, एक दम अलग थीं। कल्पसूत्रों में ये सारी बातें बदल दी गयीं। इसीलिए संस्कृत में कल्पसूत्रों को नये युग का निर्माता कहा जाता है।

ये कल्पसूत्र चार प्रकार के हैं— १. श्रौतसूत्र, २. गृह्यसूत्र, ३. धर्मसूत्र, ४. शुल्बसूत्र।

श्रौतसूत्रों में यज्ञों की विधियों का वर्णन किया गया है। वेदों में जिन यज्ञों की चर्चा की गयी है उन्हीं का सार श्रौतसूत्रों में है। गृह्यसूत्रों में गृहस्थ जीवन के कर्मों का वर्णन है। जन्म से लेकर मृत्यु तक मनुष्य के सोलह संस्कार होते हैं उन्हें पुंसवन, जातकर्म, नामकरण, उपनयन, विवाह आदि अनेक नामों से कहा गया है। उनको किस प्रकार करना चाहिए, ये बातें गृह्यसूत्रों में बतायी गयी हैं। आचार-विचारों की शुद्धि और जीवन को पवित्र तथा नियमित बनाये रखने के लिए इनका बड़ा महत्व है।

कल्पसूत्रों के तीसरे भाग धर्मसूत्रों में कुछ नई बातें देखने को मिलती हैं। गृह्यसूत्रों में एक व्यक्ति के तथा किसी परिवार के आचार-विचारों के बारे में कहा गया है। उसी प्रकार धर्मसूत्रों में सारे समाज के रीति-रिवाजों, नियमों और प्रथाओं के बारे में कहा गया है। उनमें विवाह, खान-पान और छुआ-छूत के बारे में भी विचार किया गया है। धर्मसूत्र हमारी कानून की पुस्तकें भी हैं। उन्हीं से 'मनुस्मृति' का जन्म हुआ। उन्हीं के आधार पर दूसरी स्मृतियाँ भी लिखी गयीं। पिछले कई युगों तक इन्हीं स्मृतियों के आधार पर हमारे यहाँ न्याय और शासन होता था। हमारा जो नया संविधान बना है उसका आधार भी वही धर्मसूत्र और स्मृतियाँ हैं।

शुल्बसूत्रों में यज्ञवेदी के निर्माण से सम्बद्ध नाप तथा निर्माण आदि के नियमों का वर्णन है। ये श्रौतसूत्रों से सम्बद्ध विषय का वर्णन करते हैं। इनमें भारतीय ज्यामिति के विकास का उत्कृष्ट रूप मिलता है।

३. व्याकरण

व्याकरण छः वेदांगों में से एक है। उसे वेद पुरुष का मुख कहा गया है— 'मुखं व्याकरणं स्मृतम्'। संस्कृत साहित्य में व्याकरण का एक स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में विकास हुआ। वैदिक संस्कृत के लिए जिस व्याकरण को बनाया गया उसे, 'प्रातिशाख्य' कहते हैं। ये 'प्रातिशाख्य' वेद-मन्त्रों के कठिन अर्थों को खोलने के लिए कुंजी हैं। वेद-मन्त्रों में कुछ शब्द ऐसे हैं, जिनका आशय व्याकरण की सहायता के बिना नहीं जाना जा सकता है।

इसके अलावा प्रातिशाख्यों में स्वर और व्यंजनों के बारे में कई तरह की बातें बतायी गयी हैं। किस शब्द को कैसे बोलना चाहिए, कहाँ पर रुकना चाहिए, कहाँ पर आवाज की ऊँचाई-निचाई कैसी होनी चाहिए, ये बातें भी प्रातिशाख्यों में हैं। ये प्राप्तिशाख्य शब्द-ज्ञान के पिटारे हैं। उन्हीं से बाद में व्याकरणशास्त्र का जन्म हुआ। व्याकरणशास्त्र में 'अष्टाध्यायी' का नाम पहले आता है। उसको पाणिनी ने बताया था।

४. निरुक्त

इसमें वैदिक शब्दों के निर्वचन की पद्धति दी गयी है। यह 'निघण्टु' नामक वैदिक-शब्द-कोश पर आश्रित है तथा उसी का व्याख्याग्रन्थ है। इसें वैदिक मन्त्रों की निर्वचनात्मक व्याख्या का सर्वप्रथम स्तुत्य प्रयास है।

वेद-मन्त्रों में कुछ शब्द ऐसे भी हैं, जो ऊपर से देखने में सरल मालूम होते हैं। लेकिन असल में वे वैसे हैं नहीं। उनको किसी खास मतलब से रखा गया है। इस तरह के गूढ़ शब्दों की जानकारी के लिए व्याकरण के होते हुए भी, निरुक्त की आवश्यकता हुई।

वैदिक शब्दों के गूढ़ अर्थों की जानकारी के लिए निरुक्त एक तरह की कुंजी है। संस्कृत के कई निरुक्त और निघण्टु लिखे गये। आज 'निरुक्त' नाम से जो पुस्तक देखने को मिलती है, उसके लेखक का नाम यास्क है। यास्क भी ऋषियों की परम्परा में हुए। उस पर दुर्गाचार्य की टीका प्रसिद्ध है।

५. छन्द

जिस वाणी या आवाज को सुनने या सुनाने से मन आनन्दित हो, उसे छन्द कहा गया है। छन्द पाँचवाँ वेदाङ्ग है। वेद-मन्त्रों की एक विशेषता भी है कि वे गा-गा कर कहे जाते हैं। जिस तरह हम कहानी या उपन्यास की पुस्तकों को एक ही साँस में पढ़ जाते हैं, वेदमन्त्रों को वैसे नहीं पढ़ा जाता । बिना स्वर-लय के पढ़े गये वेद-मन्त्र इच्छित फल को नहीं देते। अपितु पढ़ने वाले का नुकसान ही करते हैं। उनको किस तरह पढ़ा जाना चाहिए, इसके लिए 'छन्दशास्त्र' का निर्माण किया गया।

छन्द या लय में कहे गये वेद-मन्त्र इच्छित फल को देते हैं। छन्द में बाँध कर कही गयी कोई भी बात सुनने में अच्छी लगती है। इसके अलावा छन्द, वेद-मन्त्रों का एक कवच है। यज्ञों में तथा इसी तरह के शुभ-कार्यों को असुरों या राक्षसों की विघ्न बाधाओं से बचाने के लिए छन्दशास्त्र बनाया गया।

६. ज्योतिष

वेदाङ्ग साहित्य में ज्योतिष छठाँ स्थान है। जितने भी कर्म तथा यज्ञ हैं वे तभी फल देने वाले होते हैं, जब उनको ठीक समय पर प्रारम्भ किया जाय। समय की अच्छाई और बुराई ग्रहों तथा नक्षत्रों पर निर्भर करती है। ग्रहों की अच्छी या बुरी गति को बताने वाले शास्त्र को ही 'ज्योतिष' के नाम से कहा जाता है।

वेदों में ऐसे मन्त्र देखने को मिलते हैं, जिनमें ऋषिजन ग्रहों एवं नक्षत्रों की पूजा करते हुए पाये जाते हैं। वे उनकी पूजा इसलिए करते थे, जिससे कि वे समाज और राष्ट्र के लिए सुखकर हों। कुछ खास-खास अवसर होते हैं, जब ग्रह-नक्षत्र अच्छा फल देने की दशा में होते हैं। इस अच्छे अवसर पर किये गये कर्मों से देवता खुश होते हैं। ज्योतिषशास्त्र के द्वारा इस उपयुक्त अवसर का पता चलता है। वही समय क़ी गति-विधि को बताता है। शुभ तिथि, शुभ वार, शुभ लग्न और शुभ घड़ी का योग ज्योतिष से ही देखा जाता है। इसलिए ज्योतिष को वेद की आँखें कहा गया है।

वेद के इन छः अंगों का एक ध्येय है। वह यह कि उनकी जानकारी हुए बिना वेदमन्त्रों को न तो पढ़ा जा सकता है और न जाना जा सकता है। वे वेद के अंग है। उनका ज्ञान प्राप्त किये बिना वेद का जानना सम्भव नहीं।

वेद और वेदार्थ के ज्ञान तथा उसके उपयोग के लिये वेदाङ्ग साहित्य का सम्यक् ज्ञान नितान्त अपेक्षित है। वस्तुतः वेदाङ्ग के सम्यक् ज्ञान के बिना वेद को समझ पाना कठिन ही नहीं असम्भव है। इसीलिये ऋषियों ने वेदाङ्ग साहित्य के सम्यक् प्रसार-प्रचार और अध्ययन के महत्त्व का प्रतिपादन किया है।

□□

३

संस्कृत-साहित्य के प्रेरणास्त्रोत

वैदिक और उत्तर वैदिक युग की चर्चा में हमें कई बातों की जानकारी मिली। छः वेदांगों की रचना के साथ ही ज्ञान की कई नयी धाराएँ एकसाथ प्रकाश में आयीं। उनमें महाकाव्यों का भी एक नाम है।

वेदों से लेकर वेदांगों तक जितना साहित्य लिखा गया था उसका सम्बन्ध समाज के एक विशेष वर्ग से था। उसमें समाज के अनुशासन और कायदे-कानून की बातें अधिक थीं। समाज के सामान्य-जीवन की भावनाओं से वह अछूता ही रहा। इस कमी को पूरा किया महाकाव्यों ने। साहित्य से जनता का सम्बन्ध महाकाव्यों के निर्माण के बाद ही जुड़ा।

संस्कृत के इन आदि महाकाव्यों का नाम है 'रामायण' और 'महाभारत'। उन्होंने संस्कृत साहित्य में नये युग को जन्म दिया। उनसे एक ओर तो वैदिक ऋषियों की काव्य-भावना का विकास हुआ और दूसरी ओर संस्कृत के निर्माण के लिए ठोस भूमिका तैयार हुई। इस भूमिका को तैयार करने में 'बृहत्कथा' का भी एक नाम है।

इन तीनों पुस्तकों ने संस्कृत साहित्य को नयी दिशा दी। उनसे संस्कृत के कवियों और लेखकों को नया सम्बल मिला। इसलिए उन्हें संस्कृत-साहित्य का प्रेरणास्रोत और उपजीव्य कहा गया। उनकी कथाओं को लेकर ही नहीं, उनकी रचनाशैली के आधार पर भी संस्कृत में कई पुस्तकें लिखी गयीं।

संस्कृत की इस कहानी को जन-जीवन के बीच ले जाने और उसमें घुलाने-मिलाने का काम भी इन्हीं तीन पुस्तकों ने किया। इस माने में महाकाव्यों का यह युग संस्कृत-साहित्य की उन्नति के लिए बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ। इस कहानी को बनाने और बढ़ाने में इन तीनों पुस्तकों का जो योगदान रहा, उसकी चर्चा आगे की जायेगी।

रामायण, महाभारत, बृहत्कथा

संस्कृत की यह कहानी वैदिक युग से होकर एक नये युग में प्रवेश करती है। यह युग कई बातों में पिछले युग से अलग और साथ ही मनोरंजक भी है। पीछे छः वेदांगों की चर्चा में हमने 'लौकिक संस्कृत' के बारे में पढ़ा। कल्पसूत्रों ने 'लौकिक संस्कृत' की इस नयी भूमिका को तैयार किया था। 'रामायण' और 'महाभारत' ने उसको पूरा किया। 'बृहत्कथा' ने उसको आगे बढ़ाया। उसमें बहुत सारी नयी बातों को जोड़ा।

ये तीनों महान् ग्रन्थ संस्कृत साहित्य की अपार निधि हैं। उनसे संस्कृत साहित्य को आगे बढ़ने के लिए नयी दिशाएँ मिलीं। इस नये युग को हम 'वैदिकी और लौकिकी भाषा' का 'सन्धि युग' कह सकते हैं। इस युग में वैदिक संस्कृत की जगह लौकिक संस्कृत ने ली। 'रामायण' और 'महाभारत' में हम वैदिक और लौकिक संस्कृत दोनों का मिलन पाते हैं।

इन तीनों महान् ग्रन्थों का अपने-आप में बड़ा महत्त्व है। उससे भी अधिक नाम उनका इस कारण से है कि संस्कृत के कवियों और लेखकों को उन्होंने नयी चेतना और नया सम्बल दिया। उनकी प्रेरणा से संस्कृत में सैकड़ों नयी पुस्तकों का निर्माण हुआ। वे इतनी लोकप्रिय हुईं कि आगे के कई वर्षों तक उनके एक-एक अंश को लेकर बड़ी-बड़ी पुस्तकें लिखी गयीं। ये तीनों पुस्तकें भले ही एक युग तथा एक बात को लेकर नहीं लिखी गयीं। लेकिन उनसे आगे की पीढ़ियों को जो कुछ मिला, उसके कारण उन्हें एकसाथ याद किया जाता है और एक जैसा आदर दिया जाता है।

ये तीनों पुस्तकें साहित्य की प्रेरणा का विषय पीछे बनीं। पहले वे लोगों के कण्ठ में बस चुकी थीं। लोग उनकी कथाओं को सुनते-सुनाते और आनन्द लेते थे। सारे समाज में उनका प्रसार था। साहित्य में भी उनकी चर्चाएँ पढ़ने को मिलती हैं।

संस्कृत साहित्य में बाणभट्ट के नाम से एक बहुत बड़ा कहानीकार हुआ है। उसके बारे में आगे लिखा गया है। उसने अपनी पुस्तक 'कादम्बरी' में एक जगह बड़ी सुन्दर बात लिखी है। उसने लिखा है कि 'उज्जैन के लोग हँसी-खुशी के बड़े प्रेमी थे। सब तरह की कथाओं को सुनने-सुनाने में वे बड़े चतुर थे। 'महाभारत', 'रामायण' और पुराणों की कथाओं में उनकी बड़ी रुचि थी। 'बृहत्कथा' की कहानियों को सुनने-सुनाने में भी उनकी बड़ी दिलचस्पी थी।

बाण की पुस्तक को पढ़कर और भी कई नयी बातें हमें मालूम होती हैं। हमें मालूम होता है कि आज की ही तरह तब भी रामायण और महाभारत एवं बृहत्कथा का लोगों में खूब चलन था। इनकी कथाओं को वे मनोरंजन या विनोद के लिए ही नहीं, धर्म की भावना से भी पढ़ते थे। भक्ति से उनका पाठ करते थे। जो लोग पढ़े-लिखे नहीं होते थे, दूसरों के मुख से इन कथाओं को सुनते थे।

बाण ने लिखा है कि भगवान् जाबालि के आश्रम में 'रामायण' और 'महाभारत' की कथाओं का पाठ होता था। मंगलकार्यों के समय उनको गाया भी जाता था। बाण ने एक जगह लिखा है कि जब चन्द्रापीड कादम्बरी से मिलने गया था उस समय स्त्रियाँ मीठी आवाज में 'रामायण' और 'महाभारत' का मंगल गान कर रही थीं। गायक लोग बाँसुरी में उनके स्वरों को बाँध रहे थे। कादम्बरी उन मंगल गानों को बड़े ध्यान से सुन रही थी।

इन बातों से हमें मालूम होता है कि ये तीनों पुस्तकें समाज और साहित्य, दोनों के लिए प्रेरणा देती रहीं। वे इसलिए इतनी अपनायी और सराही गयीं, क्योंकि उनमें मानवीय गुण भरे हुए थे। वे ऐसे गुण थे, जो सभी युगों में समान रूप से पाये जाते हैं। उनसे सभी युगों में एक जैसी प्रेरणा और नवीनता मिलती रही।

पिछले दो हजार वर्षों के साहित्य को देखकर इन तीनों पुस्तकों की वास्तविकता को आँका और जाना जा सकता है। इन दो हजार वर्षों में संस्कृत साहित्य पर तो उनका गहरा प्रभाव बना ही रहा। इसके अलावा भारतीय भाषाओं के साहित्य को भी उन्होंने प्रभावित किया। एक सीमा तक विश्व साहित्य को भी उनसे प्रेरणा मिली। पश्चिम के पण्डितों ने उनको पढ़ा। अपनी भाषाओं में उनका अनुवाद किया। उनकी लोकप्रियता और महत्ता के बारे में अपने विचार प्रकट किये।

आज वे भारतीय लेखकों का ही नहीं, संसार के लेखकों का भी आदर्श बन गयी हैं। भारतीय जन-जीवन की ही तरह उन्होंने संसार के जन-जीवन को भी प्रभावित किया है। उनकी यह सबसे बड़ी सफलता है।

इस तीनों पुस्तकों की अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं। उनकी अलग-अलग चर्चा करने से ही उनके बारे में नयी बातें जानी जा सकती हैं। भारतीय साहित्य के लिए किस रूप में वे प्रेरणा का स्रोत बनीं, इस बात को जानने के लिए भी हमें उनकी अलग-अलग जानकारी करनी होगी।

सबसे पहले हमें रचयिताओं या बनाने वालों के बारे में जान लेना चाहिए। पहले वाल्मीकि मुनि, तब वेदव्यास और उसके बाद हम गुणाढ्य के बारे में कहेंगे। इसी क्रम से 'रामायण', 'महाभारत' और अन्त में 'बृहत्कथा' की चर्चा की गयी है। महामुनि वाल्मीकि कौन थे, उनकी जीवनी से इस चर्चा को शुरू किया गया है।

आदिकवि वाल्मीकि

जीवनी और समय

महर्षि वाल्मीकि का नाम भारतीय साहित्य की अमर थाती है। इस देश की जनता के दिल पर उनकी अमिट छाप है। इस देश को उन्होंने वाणी दी। प्रेरणा का ऐसा स्रोत बहाया, जो युगों से जन-मन को सींचती आ रही है। उनके नाम से हमारे देश का मान बढ़ा, हमारे साहित्य को गौरव मिला।

महर्षि वाल्मीकि को आदिकवि के नाम से याद किया जाता है। आदिकवि माने पहले कवि। संस्कृत में उन्होंने ही सबसे पहले कविता रची। वैसे तो वेदों की ऋचाएँ भी कविता में हैं। ऋचाओं के रूप में कविता करने वाले कई ऋषि वाल्मीकि मुनि से भी पहले हो चुके थे। लेकिन लोक-जीवन पर कविता लिखने वाले सबसे पहले ऋषि वाल्मीकि ही थे। लौकिक संस्कृत की छन्दोमयी वाणी में सबसे पहले उन्होंने ही काव्य लिखा। इसलिए उनको आदि कवि कहा गया। लेकिन उनकी वह आदि कविता कौन थी। उसे उन्होंने क्यों लिखा। इसकी भी एक कहानी है। यह कहानी बड़ी रोचक है। इस कहानी को पढ़ कर हमें मालूम होता है कि कविता का जन्म करुणा की कोख से हुआ। कहानी इस प्रकार है—

एक दिन की बात है। प्रातःकाल महर्षि वाल्मीकि तमसा नदी पर नहाने जा रहे थे। वहाँ उन्होंने देखा कि पेड़ पर क्रौंच पक्षी का एक जोड़ा खेल रहा है। उनमें एक

नर था दूसरा मादा। इसी बीच न जाने कहाँ से एक शिकारी आया। उसने बाण साधा। निशाना लगाया और नर पक्षी को मार गिराया। मादा बेचारी देखते ही रह गयी। यह देखकर वाल्मीकि मुनि का गला भर आया। उस निरीह निर्दोष पक्षी की पीड़ा को वे सह न सके। एकाएक उनके करुणा-भरे कण्ठ से यह छन्द फूट पड़ा—

'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥' (वा.रा., बाल. २.१५)

अरे क्रूर शिकारी, प्यार से खेलते हुए इन बेचारे निरीह पक्षियों में से तुमने एक को मार गिराया। उनका कसूर कुछ भी न था। तूने यह बड़ा भारी पाप कर डाला। तेरे इस अपराध को मैं क्षमा नहीं कर सकता। मैं तुझे इसकी सजा देता हूँ। जा पापी, बहुत समय तक तुझे भी सुख-चैन नसीब न हो।

संसार को कवितामयी भाषा का यह पहला वरदान था। वाणी का नया रूप था। उसको ब्रह्माजी ने सुना। वे भी सुनकर अवाक् रह गए। वे उसी समय महामुनि के पास गये। उन्होंने महामुनि से विनती की—

'हे महामुनि, वाणी आपके वश में हो गयी है। शब्द आपको सिद्ध हो गये हैं। आपकी तपस्या धन्य है। आपने तीनों लोकों का भला कर दिया। अब आप इस कवितामयी वाणी में राम की कहानी कहें। संसार में आप आदिकवि के नाम से कहे जायेंगे। इस धरती के लोग इसी नाम से आपको याद करेंगे।'

ब्रह्माजी के इस निवेदन पर महामुनि ने विचार किया। उनका जीवन सुनसान जंगलों में तपस्या करते बीता था। लेकिन उनके मन में लोक की भलाई का भाव था। एक पक्षी के शोक ने उनके मन को मथ डाला। वे अपनी इस व्यथा को लोक के सामने रखना चाहते थे। वे लोक के लिए कुछ ऐसा देना चाहते थे, जिसमें धर्म, साहित्य, कला, संस्कृति और इतिहास की कहानी एकसाथ कही जा सके। जिसमें लोक-मंगल हो। ये सभी बातें उन्हें राम के चरित में दिखायी दीं। उन्हें ब्रह्माजी का सुझाव पसन्द आया। उन्हें अपना मनचाहा चरित मिल गया। ऐसा चरित जो अवतारी था। लेकिन जिसमें एक सादे गृहस्थ का सुख-दुःख, पीड़ा और ममता थी और जिसमें मानवता के महान् गुण थे।

इस तरह वाल्मीकि मुनि ने रामायण की रचना की। यह राम की कहानी क्या थी, करुणा की कहानी थी, जिसमें साहित्य की अनगिनत धाराएँ निकलीं।

महामुनि वाल्मीकि कब हुए और कहाँ हुए। इस बारे में कुछ मालूम नहीं होता। मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि वे त्रेतायुग में हुए। उसी त्रेतायुग में जिसमें राम पैदा हुए थे। जिस रामराज्य की हम आज कल्पना ही कर सकते हैं। जिसकी खुशहाली और जिसके सुख-चैन की बातें पुस्तकों में पढ़ सकते हैं। वाल्मीकि मुनि ने उसे अपनी आँखों से देखा था। उसी को उन्होंने अपनी कलम में उतारा।

महामुनि वाल्मीकि की जीवनी के इस विषय को पूरा करने से पहले दो-एक बातें जाननी अभी बाकी हैं।

वाल्मीकि मुनि कौन थे, उनको इस नाम से क्यों कहा जाने लगा। इसकी रोचक

चर्चा एक पुराण कथा में देखने को मिलती है। कथा बहुत लम्बी है। लेकिन यहाँ उसका सारांश दिया जा रहा है। कथा इस प्रकार है—

बहुत पुराने जमाने में च्यवन नाम के एक ऋषि हुए। उनका एक पुत्र था। उसका नाम था रत्नाकर। रत्नाकर का लालन-पालन बड़ी अच्छी तरह हुआ था। लेकिन बड़ा होकर वह बुरी संगति पड़ गया। वह यहाँ तक बिगड़ा कि राहगीरों की लूट-पाट करने लगा। लोग उसका नाम सुनते ही काँपने लगते।

ब्रह्माजी के पास रत्नाकर के इन कारनामों की खबर पहुँची। नारद मुनि को साथ लेकर एक दिन ब्रह्माजी कपटी वेष बनाकर उस जंगल में गए, जहाँ रत्नाकर छिपा रहता था। उसने इन दोनों को देखा। वह उनकी ओर झपटा। ज्यों ही उसने लट्ठ मारना चाहा, त्यों ही ब्रह्माजी ने कहा 'हे भाई, तुम कौन हो और क्या चाहते हो?'

रत्नाकर ने तपाक् से उत्तर दिया, 'मैं तुम्हारा काल हूँ और तुम्हारा काम तमाम करना चाहता हूँ। निकालो, तुम्हारे पास जो कुछ है।'

इस पर ब्रह्माजी ने कहा, 'हम तो साधु-सन्त हैं। हमारे पास क्या रखा है? भाई, तुम खुशी से हमारी जान ले लो। लेकिन हमें एक बात बताते जाओ। यह जो तुम इतना पाप बटोर रहे हो, उसका भागीदार कौन-कौन है? तुम्हारे परिवार के लोग तुम्हारी कमाई तो मजे से खाते हैं। लेकिन इस लूट-पाट के माल का जो पाप है, क्या उसमें तुम्हारे घर वाले भी हिस्सा लेने के लिए तैयार हैं? तुमने कभी इस बात को उनसे पूछा? हमको भले ही तुम इस पेड़ पर बाँध लो। लेकिन अपने घर वालों से पहले इस बात को पूछ जाओ।'

रत्नाकर को साधु की बात लग गयी। साधुओं को पेड़ से बाँध कर वह घर की ओर चल पड़ा।

घर पहुँचते ही उसने अपने पिता से पूछा, 'पिताजी, घर में जो मेरी कमाई का धन आता है उसे मैं निरीह राहगीरों से लूट कर लाता हूँ। मैं लोगों को मारता भी हूँ। कहिए, आप भी मेरे इस पाप में हिस्सा बटाएँगे?'

पिता च्यवन ऋषि ने उत्तर दिया, 'वाह, यह कहाँ लिखा है कि पाप करे लड़का और उसका फल भुगते पिता? और फिर मैंने तुमसे इस तरह का अन्याय, अत्याचार करने के लिए कभी नहीं कहा। मैंने तुझे पाला-पोसा, बड़ा किया। अब तेरा फर्ज है कि तू मेरा पालन करे।'

पिताजी की बातों को रत्नाकर ने सिर नीचा करके सुना। वैसे ही वह अपनी माता के पास गया। माता से भी उसने वही बात पूछी। माता ने भी उसे कोरा जवाब दे दिया।

माता-पिता का जवाब पाकर वह पीड़ा से तिलमिला गया। वह लौटना ही चाहता था कि उसने सोचा क्यों न लगे हाथ अपनी स्त्री से भी पूछ लूँ। स्त्री के पास जाकर उसने पूछा, 'प्रिये, मैं अपनी जान को जोखिम में डालकर यह धन तुम्हारे हवाले कर देता हूँ। यह धन लूट-पाट का है। जब तुम्हारे सुख के लिए आदमियों तक को मार डालता हूँ तो जरूर ही तुम मेरे पापों में हिस्सा बटाओगी?'

'पतिदेव!' उसकी स्त्री ने कहा, 'मुझे तो कुछ भी पता नहीं है कि आप ऐसे

अधर्म का धन लाते हैं। विवाह की वेदी पर अग्निदेव के सामने आपने मेरे भरण पोषण की शपथ ली थी। मेरा पालन-पोषण करना तो आपका कर्त्तव्य है। मैंने आपसे कभी नहीं कहा कि आप लोगों को मारें। फिर भला आपके पाप की भागीदार मैं क्यों बनूँगी।'

रत्नाकर का यह सुनना था कि उसको जमीन घूमती नजर आयी। वह दुखी मन से जंगल की ओर मुड़ गया। दोनों साधुओं के बँधन छोड़कर वह उनके पैरों में गिर पड़ा। उसने प्रार्थना की 'हे साधु महाराज, मुझे माफ करें। मेरे पाप कैसे धुलेंगे, मुझे इसका उपाय बतायें। नहीं तो मैं आपके पैर पकड़े ही अपनी जान दे दूँगा।'

ब्रह्माजी और नारदजी ने जैसा सोचा था, वही हुआ। उन्होंने रत्नाकर को 'रामनाम' जपने के लिए कहा। रत्नाकर इतना पापी हो गया था कि उसकी जुबान पर 'राम-नाम' नहीं उतरा। ब्रह्माजी ने उसको दूसरा उपाय बताया। कहा 'एक काम करो! आदमियों को मारते समय तुम कहा करते थे 'मरा मरा'। सो तुम वही दुहराओ।'

इतना कहकर ब्रह्माजी और नारदजी स्वर्गलोक लौट आये।

उधर रत्नाकर उसी 'मरा मरा' को रटने लगा। गुरु की कृपा से वे असर उलट कर 'राम-राम' में बदल गए। इसमें वह इतना खो गया कि उसे अपने तन-मन की सुधि न रही। दिनों और महीनों नहीं, वर्षों बीत गये। वह जहाँ पर बैठा था, वहीं पर उसके सारे शरीर को दीमकों ने चाट खाया। लेकिन उसने "राम राम' की लौ को न छोड़ी। उसके सभी पाप राम नाम की आग में जल गए।

एक दिन ब्रह्माजी और नारदजी रत्नाकर की खबर लेने के लिए वहाँ आये। जिस जगह पर रत्नाकर ने आसन लगाया था वहाँ अब मिट्टी का ढेर बन गया था। उसके भीतर से 'राम नाम' की धीमी आवाज अब भी निकल रही थी। ब्रह्माजी ने पानी बरसाया। मिट्टी का ढेर बह गया। उसके भीतर से रत्नाकर की हड्डियों का ढाँचा निकला। ब्रह्माजी ने उस पर हाथ रखा। वह जैसे-का-तैसा हो गया।

रत्नाकर ने ब्रह्माजी और नारदजी के पैरों को पकड़ लिया। उसका भीतर और बाहर अब निर्मल हो चुका था।

रत्नाकर, ब्रह्माजी ने कहा, 'रामनाम की महिमा अपार है। अब तुम्हें सारे वेद-शास्त्र कण्ठस्थ हो गये हैं। आज से मैं तुम्हारा नया नाम रखता हूँ। तुम लोक में वाल्मीकि नाम से कहे जाओगे। राम नाम को पाने के लिए तुम्हारा सारा शरीर वाल्मीकि याने दीमकों का घर बन गया था। इसलिए तुम्हारा यही नाम ठीक रहेगा। अब तुम भगवान् श्रीराम की कथा कहो।'

यही इस पुराण-कथा का सार है। कहा नहीं जा सकता कि इसमें कितनी सच्चाई है। लेकिन इसमें कोई शक नहीं कि यह बड़ी रोचक और सुन्दर है।

इसके साथ ही जीवन का यह विषय पूरा हो जाता है। इसके अलावा वाल्मीकि मुनि के बारे में कोई जानकारी नहीं मिलती है।

आदिकवि वाल्मीकि के बाद बादरायण व्यास या वेदव्यास के बारे में भी कुछ जान लेना चाहिए। उसके बाद 'रामायण' और 'महाभारत' की चर्चा की जायगी।

बादरायण व्यास

जीवनी और समय

महर्षि वाल्मीकि की ही तरह महर्षि बादरायण व्यास की भी प्रसिद्धि है। यह नाम भी भारतीय साहित्य का एक अटूट अंग बन गया है। भारत और भारतीय साहित्य की जिसको थोड़ी भी जानकारी है, व्यास के नाम को वह जरूर जानता होगा।

'वैदिक और वैदिकोत्तर काल' में पहले हम वेदव्यास के बारे में पढ़ चुके हैं। वहाँ हम यह जान चुके हैं कि कुछ ऋषियों ने वेदों के मिले-जुले मन्त्रों को चार संहिताओं के रूप में अलग किया था। इस तरह वेदों का व्यास अथवा विभाजन करने अथवा अलग छाँटने वाले उन ऋषियों को 'वेदव्यास' नाम से कहा गया। इससे यह मालूम होता है कि 'वेदव्यास' किसी का नाम नहीं था। जिसने भी वेदों का विभाजन किया उसे ही 'वेदव्यास' कहा गया। इस उपाधि या पदवी को पाने वाले ऋषि अब तक बत्तीस हो चुके हैं। इन 32 ऋषियों का नाम विष्णुपुराण में गिनाया गया है।

'महाभारत' को बनाने या रचने वाले ऋषि को भी 'वेदव्यास' नाम से जाना जाता है। वे अन्तिम 'वेदव्यास' थे। इनका पूरा नाम कृष्णद्वैपायन वेदव्यास था। उन्हीं को बादरायण व्यास के नाम से भी जाना जाता है। उनका यह नामकरण एक कारण से पड़ा। उन्होंने उत्तराखण्ड के पवित्र तीर्थ बदरिकाश्रम में बैठकर 'महाभारत' लिखा था। बदरिकाश्रम के पास बना व्यासपीठ आज भी उनके नाम की पवित्र यादगार को अमर बनाये है। यहीं बैठकर उन्होंने अपनी सब पुस्तकों को लिखा था। बदरिकाश्रमवासी होने के कारण उन्हें बादरायण व्यास कहा गया।

जहाँ तक उनके बारे में अन्य बातों की जानकारी का प्रश्न है, वे बहुत कम मिलती हैं। लेकिन महर्षि वाल्मीकि की अपेक्षा वे कुछ अधिक ही हैं। पुराणों में दी गयी उनकी वंशावली से ये बातें मालूम होती हैं। उनकी माता का नाम सत्यवती और उनके पिता का नाम पराशर ऋषि था। पैल, वैशम्पायन, जैमिनी और सुमन्तु उनके चार शिष्य थे। कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास की तरह उनके शिष्यों के ये चारो नाम भी भारतीय साहित्य की अमर थाती है। कृष्णद्वैपायन वेदव्यास द्वारा छाँटी गयी चारों संहिताओं को उनके इन चारों शिष्यों ने आगे बढ़ाया। एक-एक ने अलग-अलग संहिता की थाती को सँभाला और उसे अगली पीढ़ी को दिया।

बादरायण व्यास कब हुए, कहाँ हुए, इन बातों को बताने का समय नहीं है। फिर भी इतना जरूर कहा जा सकता है कि वे कौरवों और पाण्डवों के समय हुए। कौरवों और पाण्डवों की लड़ाई को उन्होंने अपनी आँखों से देखा था। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि बादरायण व्यास द्वापर युग में हुए, आज से हजारों वर्ष पूर्व।

उनके बारे में मोटे तौर पर इतनी ही जानकारी उपलब्ध होती है।

रामायण और महाभारत का युग

वेदों और वैदिक साहित्य के बाद संस्कृत की यह कहानी नये युग में प्रवेश

करती है। इस नये युग की बुनियाद वैदिकोतर काल में ही पड़ चुकी थी। वेदांग इसी नये युग की भूमिका थी। इस नये युग को जन्म दिया 'रामायण' और 'महाभारत' ने। संस्कृत-साहित्य की जो महान् थाती हमें वैदिक युग के ऋषियों ने दी थी उसको आगे बढ़ाया वाल्मीकि और व्यास ने। उन्होंने वैदिक काल की सारी विरासत को लोकजीवन के साँचे में ढाला। यह उनकी गहरी परख और अनूठी सूझ-बूझ थी।

वाल्मीकि और व्यास ने लोक की इच्छाओं और भावनाओं के अनुरूप लोक की भाषा में कहा। इसके लिए उन्होंने ऐसी कथाओं को लिया जिनका सीधा सम्बन्ध लोक से था। अपने-अपने युग के महान् चरित्रों को लेकर उन्होंने दो महान् ग्रन्थों की रचना की। इसीलिए वे दोनों महर्षि लोककवि कहलाये। उन्होंने जिन दो ग्रन्थों की रचना की उनसे 'लौकिक संस्कृत' की बुनियाद पड़ी।

इस तरह 'वैदिक संस्कृत' और 'लौकिक संस्कृत' के नाम से दो अलग-अलग युगों का जन्म हुआ।

'रामायण' और 'महाभारत' दोनों लम्बे युगों की साधना के दो फल हैं। उन्होंने एक नये युग को जन्म दिया। उनसे पहले का जितना साहित्य था वह युग और परिस्थितियों के अनुसार पुराना पड़ गया था। नया समाज जिस तरह के साहित्य को चाहता उसको पूरा करने के लिए नये युग की बातों को लेना जरूरी था। इस नये युग की माँग को पूरा किया 'रामायण' और 'महाभारत' ने।

यह नया युग कौन था और उसकी मांग क्या थी। इस बारे में भी जान लेना जरूरी है।

मनुष्य की जन्म से ही काव्य और कला के लिए चाह होती आई है। ये बातें इतिहास से ही नहीं, व्यवहार से भी साबित हो चुकी हैं। वेदों के ऋषि मनुष्यों के स्तर से काफी ऊँचे थे। उनमें भी काव्य और कला की चाह थी। प्रकृति की छटा पर गायी गयी ऋचाएँ ऋषियों के इस काव्य-प्रेम का साक्ष्य प्रस्तुत करती हैं। लेकिन ऋषियों की गायी गयी वे कविताएँ सब के लिए नहीं थीं। उनको गाने और उनसे आनन्द लेने का अधिकार या हक कुछ ही लोगों को था। किसी हालत में उन बहुत सारे लोगों के लिए कुछ भी न था, जो वेदों की ऋचाओं को न तो गा सकते थे और न समझ सकते थे।

वाल्मीकि मुनि और बादरायण व्यास भी ऋषि थे। उन्होंने लोक की इस माँग को पहचाना, उनकी जरूरत को महसूस किया। यह बदला हुआ नया युग और इस युग के नये लोग जो चाहते थे उसी को इन दोनों ऋषियों ने कहा।

यही कारण है कि 'रामायण' और 'महाभारत' लोगों के दिलों में समा गये। घर-घर में उनकी पूजा होने लगी। वे हमारे जीवन के साथ बंध गए। उन्होंने हमें प्रेरणा दी। नये विचार दिये।

विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कवियों के दो प्रकार बताये हैं। एक प्रकार के कवि तो वे हैं, जिनके सुख-दुःख और जिनकी कल्पना में संसार के सारे मनुष्यों के सुख-दुःख और कल्पनाएँ अपने आप बोलती हैं। दूसरे प्रकार के कवि वे हैं, जिनकी रचना के भीतर से एक सारा देश और एक सारा युग बोलता है। 'रामायण' और 'महाभारत' ऐसे ही दो

काव्य हैं। वे हिमालय और गंगा की तरह भारत की जीवन-धारा हैं।

इस तरह ये दोनों पुस्तकें हमारे इस देश की आत्मा हैं। वे हमारी राष्ट्रीय एकता की भी कड़ियाँ हैं। उनमें भारत के चारों कोनों की आवाज और संस्कृति बोलती है। उनके द्वारा यह देश भौगोलिक एकता में बँधा हुआ है। वे संसार को यह बताती हैं कि यह देश युगों से विचारों से, मन-कर्म से और रहन-सहन से भी एक है।

रामायण और महाभारत का रचना-काल

'रामायण' और 'महाभारत' के बारे में हमने बहुत-सी बातें पढ़ीं। उनको पढ़कर हमें कई बातें मालूम हुईं। हमें यह मालूम हुआ कि रामकथा और कौरव-पाण्डव-कथा बहुत पुरानी है। उनको सबसे पहले सूतों और चारणों ने गाया। उन्होंने गा-गाकर उन्हें समाज में फैलाया।

उसके बाद उन लोकप्रिय कथाओं को वाल्मीकि मुनि और बादरायण व्यास ने 'रामायण' और 'महाभारत' में बाँधा। वाल्मीकि और व्यास, क्योंकि उन्हीं युगों में पैदा हुए थे इसलिए सूतों और चारणों के मुख से कही गयी कथाओं में उन्होंने अपने अनुभवों तथा आँखों देखी सच्चाइयों को जोड़कर उन्हें और भी उत्तम बना दिया।

'महाभारत' के बारे में हमें यह भी जानने को मिलता है कि उसके कई कर्ता और वक्ता-प्रवक्ता हुए। वह कई बार घटा-बढ़ा भी। ऐसी हालत में उसके रचनाकाल को बताना और भी कठिन हो जाता है।

आज के इतिहासकारों का कहना है कि 'रामायण' और 'महाभारत' अपने मूल रूप में कई हजार वर्ष पुराने हैं। एक त्रेता की रचना है और दूसरी द्वापर की। जो रूप हमारे सामने हैं वे आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पुराने हैं। वे ईसा के पाँच सौ या छः सौ वर्ष पहले बने।

रामायण

भारतीय साहित्य में रामायण का नाम अमर है। एक दिन 'रामायण' अपने निर्माता वाल्मीकि मुनि की कृति रही होगी। लेकिन आज वह भारत के करोड़ों नर-नारियों का कण्ठहार बन गयी है। इस देश के जन-जीवन के साथ वह ऐसी घुल-मिल गयी है कि उसको अलग किया ही नहीं जा सकता है। उसमें एक ओर तो अपने निर्माता की ऊँची प्रतिभा का दर्शन होता है, दूसरी ओर जिस धरती पर उसका निर्माण हुआ उसका सबकुछ उसमें देखने को मिलता है। एक प्रकार से इस देश और इसके निवासी करोड़ों लोगों की तस्वीर उसमें देखने को मिलती है।

उसको आदिकाव्य और महाकाव्य कहा गया है। आदिकाव्य इसलिए कि संस्कृत में कविता का वरदान उसी से मिला। महाकाव्य इसलिए कि हमारे इतिहास के सबसे बड़े आदर्श महापुरुष की पूरी कथा उसमें कही गयी है। लेकिन न तो महाकाव्य और न आदिकाव्य, बल्कि भारतीय परिवारों में उसे एक धर्मपोथी के रूप में पूजा तथा अपनाया जाता है। उसमें इस देश की जनता का जीवन बोलता है। उसकी इच्छाएँ,

कल्पनाएँ और मान्यताएँ उसने गुँथी हुई हैं। भक्ति, ज्ञान और भाइचारे के जो पुराने आदर्श हैं उनको उसमें वाणी दी है। इस धरती पर यह वाणी तब तक गूँजती रहेगी, जब तक मानवता बनी रहेगी।

पिछले हजारों वर्षों से हमारे जीवन के साथ उसका अटूट सम्बन्ध है। उसके नाम में ही इतनी पवित्रता और मोह है कि बरबस ही हम उस पर रीझ पड़ते हैं। उसका कारण है। एक बार विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कहा था, 'उसमें धरती की बातें खूब खोलकर बतायी गयी हैं। पिता-पुत्र में, भाई-भाई में और पति-पत्नी में जो धर्म का रिश्ता है, जो प्रेम, भक्ति और आदर का सम्बन्ध है, 'रामायण' में उनको विस्तार से बताया गया है। इसलिए सहज ही वह हमारे जीवन में घुल-मिल गयी है। उसमें हमें अपनापन महसूस होता है।'

उसकी लोकप्रियता के और भी कई कारण हैं। उसमें समाज की, परिवार की, घर-घर की और हर आदमी की बातें कही गयी हैं। उसमें जो बाते कही गयी हैं, उनसे कोई भी आदमी चाहे वह संसार के किसी भी छोर का रहने वाला हो, अपना नाता सहज ही जोड़ लेता है। समाज उसमें अपनी तस्वीर देखता है। हर आदमी उसको अपनी कहानी मानता है। युग-युगों से उसकी यह असलियत बनी हुई है। इसीलिए उसे इतना सम्मान और आदर दिया जाता है।

उसमें मनुष्य-मनुष्य के लिए महान् आदर्श रखा गया है। उसका यह आदर्श हिमालय जितना ऊँचा और समुद्र जितना गम्भीर है। उसकी ऊँचाई और तह में जाकर जीवन के अमर रत्नों को खोजा जा सकता है। उसमें ऐसा अमृत है, जो जीवन को अजर-अमर बना देता है।

'रामायण' में राम की कहानी कही गयी है। इस रामकथा के बारे में कहा जाता है कि सबसे पहले उसे कविताओं और गीतों के रूप में गाया गया। शहरों में नहीं, देहातों या गाँवों में आज भी रिवाज है कि किसी असाधारण या अनहोनी घटना को कथाओं और गीतों में बाँध दिया जाता है। ये कथाएँ और गीत समाज की वाणी में बस जाते हैं। रामकथा भी इसी तरह गायी जाती रही। इन गीतों और कविताओं को गाने वाले थे इक्ष्वाकुवंश के सूत। पुराणों द्वारा गाये गये गीतों को महामुनि वाल्मीकि ने अपनी लेखनी में ढाला। महामुनि की लेखनी में ढल कर यह रामकथा नये रूप में सामने आई। उसे महामुनि ने 'रामायण' नाम दिया।

यह रामायणी कथा बहुत दिनों तक मौखिक रूप में ही बनी रही। उसको मौखिक ही गाया जाता रहा। महामुनि ने ही उसका गाने का तरीका बताया। सबसे पहले महामुनि ने इस कथा को लव और कुश को पढ़ाया। उन्होंने वीणा के स्वरों में उसका गान किया।

धीरे-धीरे यह कथा समाज में फैली। मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम की यह कथा लोक-जीवन में समा गयी। यह कथा लोकजीवन की अपनी कथा हो गयी। उसमें लोक ने अपनी सभी बातों को पा लिया। हर एक आदमी उसको पढ़ कर और सुनकर अपना मनोविनोद करने लगा। जन-जीवन के लिये यह 'रामायण' कर्म की, आदर्श की

ओर प्रेरणा की पुस्तक बन गयी।

जन-जीवन के अलावा साहित्य में भी उसका गहरा असर हुआ। कविता में, नाटक में और कथा-कहानियों में सभी विषयों में उसको अपनाया गया। संस्कृत के हरएक लेखक ने अपनी पुस्तक के लिए 'रामायण' की कथा से प्रेरणा ली। सैकड़ों वर्षों तक साहित्य में उसका प्रभाव बना रहा। लेकिन समाज में 'रामायण' की जो लोकप्रियता बन गयी थी उसकी जगह कोई दूसरी पुस्तक न ले सकी।

भारतीय साहित्य के अतिरिक्त विश्व साहित्य में भी 'रामायण' को प्रमुख स्थान दिया गया और उसकी प्रतिष्ठा तथा उसकी प्रशंसा की गयी।

इस तरह 'महर्षि वाल्मीकि की 'रामायण' इस देश के करोड़ों नर-नारियों के कण्ठ का हार बनी। कई हजार वर्षों से लेकर अब तक जन-जीवन पर उसकी एक जैसी छाप बनी हुई है।

महाभारत

इस देश को परम्परा से ज्ञान की जो विरासत मिलती रही उसको एकसाथ 'महाभारत' में देखा जा सकता है। जिस तरह सभी नदियाँ मिल कर समुद्र में एक हो जाती हैं उसी प्रकार ज्ञान की सभी धाराएँ मिलकर 'महाभारत' में एक हुई हैं। वह एक प्रकार का ज्ञान-सागर है। उसके बारे में कहा जाता है कि जो कुछ उसमें नहीं, वह अन्य कहीं भी नहीं है। 'यदिहास्ति तदन्यत्र, यन्नेहास्ति न तत् कचित्'॥ महा०, आदि. ६२-५३।

साहित्य के किसी एक विषय के भीतर उसको नहीं रखा जा सकता है। वह न तो केवल पुराण है, न इतिहास, न महाकाव्य ही और न धर्म पुस्तक ही। बल्कि वह सभी कुछ है। वैदिक और लौकिक दोनों युगों का वह एक ऐसा समझौता है, जिस पर दोनों युगों के मनीषियों के हस्ताक्षरों की मुहर है। प्राचीन आचार्यों ने महाभारत और रामायण को इतिहास कहा है और महाभारत के विषय में कहा गया है कि इस ग्रन्थ रत्न से कवियों की बुद्धि विकसित होगी।

उसके रचयिता वेदव्यास ने खुद ही लिखा है कि चारों वेदों, उसके छह अंगों और उपनिषद् विद्या की जानकारी होने पर भी जो महाभारत के आख्यान को नहीं जानता उसे पण्डित नहीं कहा जा सकता। यह महान् आख्यान एकसाथ ही अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष की जानकारी देता है—'धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ'॥ महा. आदि. ६२-५३। जिस भी मनुष्य को यह आख्यान रुच गया उसके लिए दूसरे आख्यान वैसे ही सूखे और नीरस लगते हैं जैसे कोयल की मीठी तान के आगे कौए के कठोर बोल।

'महाभारत' के नाम से ज्यादातर लोग कौरव-पाण्डवों की लड़ाई या मार-काट की बात सोचते हैं। लेकिन ऐसा सोचना ठीक नहीं है। वह न्याय और धर्म की लड़ाई है। उस लड़ाई में जो लोग शामिल हुए वे धर्म, राजनीति और न्याय के बहुत बड़े जानकार थे। इस लड़ाई का अन्त एक ऐसे वातावरण में किया गया है, जहाँ पर किसी भी पक्ष को कोई एतराज नहीं। दोनों एकमत हैं। इसीलिए 'महाभारत' को शान्त रस

की पुस्तक माना गया।

उसका यह 'महाभारत' नाम 'बड़ी लड़ाई' के कारण नहीं पड़ा। बल्कि दूसरे ही कारण पड़ा। एक बार देवताओं ने चारों वेदों को एक ओर और 'महाभारत' ग्रन्थ को एक ओर रखा। दोनों को जब तौला गया तो भारत ग्रन्थ अधिक भारवाला निकला। इसीलिए चारों वेदों से महान् भगवान् होने के कारण उसे 'महाभारत' कहा गया।

'महाभारत' में ही लिखा है कि कौरव-पाण्डवों की यह कथा कई लोगों के द्वारा कई बार लिखी गयी है। हरएक बार उसमें कुछ न कुछ फेर बदल होता गया। इसीलिए समय-समय पर उसे कई नामों से कहा गया। इसका अपना एक इतिहास है। इस इतिहास को जान लेना चाहिए।

भारतीय इतिहास में चन्द्रवंश का बहुत बड़ा नाम है। इसी राजवंश में धृतराष्ट्र और पाण्डु नाम के दो प्रतापी राजा हुए। धृतराष्ट्र से कौरव वंश और पाण्डु से पाण्डव वंश का जन्म हुआ। इन दोनों राजवंशों की कथा का नाम ही 'महाभारत' है। इस कथा को बादरायण व्यास ने लिखा।

कथा को लिखने से पहले व्यासजी ब्रह्माजी के पास गये। उन्होंने इस महान् कथा को लिखने के लिए ब्रह्माजी से गणेश जी को माँगा। ब्रह्माजी ने व्यासजी की बात मान ली।

गणेशजी लिखने के लिए तैयार हो गए लेकिन उन्होंने एक शर्त रखी। उन्होंने व्यासजी से कहा, 'मैं कथा लिखने के लिए तैयार हूँ। लेकिन शर्त यह है कि आप कहीं पर भी रुकेंगे नहीं।'

इस पर व्यासजी ने कहा, 'मुझे आपकी शर्त स्वीकार है। लेकिन मेरा भी यह निवेदन कि मेरी हरएक बात को समझ लेने के बाद ही आप आगे बढ़ेंगे।'

गणेशजी ने व्यासजी की इस शर्त को स्वीकार कर लिया। इस तरह व्यासजी कहते गये और गणेशजी उसे लिखते गये। व्यासजी ने जो कथा गणेशजी से लिखायी थी उसका नाम 'जय' था। यह नाम उसका इसलिए रखा गया कि उसमें पाण्डवों की विजय की कहानी थी।

इस 'जय' ग्रन्थ का 'महाभारत' नाम तब पड़ा जब उसे दुहराया गया। उसको पहली बार दुहराया गया था जनमेजय के नागयज्ञ के समय और दुबारा शौनक ऋषि के यज्ञ के अवसर पर। इसकी भी एक कथा है।

नैमिषारण्य नाम के वन में शौनक ऋषि का एक आश्रम था। उन्होंने एक बहुत बड़ा यज्ञ किया। इतना बड़ा कि जिस पर पूरे बारह वर्ष लगे। उसमें उस समय के छियासी हजार ऋषि-मुनियों ने भाग लिया था।

जैसा कि यज्ञ था वैसी ही उसकी धूम थी। दूर-दूर के लोग कथा सुनने के लिए वहाँ आये। एक दिन लोमहर्षण ऋषि के पुत्र उग्रश्रवा ऋषि भी वहाँ आये। सभी ऋषि-मुनियों ने उनका स्वागत किया। उग्रश्रवा का एक नाम सूत भी था। पुरानी कथाओं को सुनाने में उनकी बड़ी प्रसिद्धि थी। उनके पिता लोमहर्षण कवि भी कथा कहने में

कुशल थे इसलिए कथा कहने की कला सूतजी को जन्म से ही मिली थी।

इस प्रकार सूतजी को अपने बीच आया देखकर सब ऋषि-मुनियों को बड़ी खुशी हुई। उन्हें आदर के साथ ऊँचे आसन पर बैठाया गया। उनसे कथा सुनाने का भी अनुरोध किया गया।

सूतजी ने कथा सुनाते हुए कहा—

'हे ऋषि-मुनियों और राजाओं, इससे पहले एक समय राजा परीक्षित के पुत्र राजा जनमेजय ने नागयज्ञ किया था। उसमें सब शास्त्रों और चारों वेदों के ज्ञाता व्यासजी और उनके शिष्य वैशम्पायनजी भी पधारे थे। उस समय राजा जनमेजय ने व्यासजी से कथा सुनाने की प्रार्थना की थी। इस पर व्यासजी ने वैश्पायनजी को वह कथा सुनाने के लिए कहा, जिसे कि उन्होंने गणेशजी से लिखवाया था। यानी 'जय' पुस्तक की कहानी सुनाने का आदेश दिया। तब वैशम्पायन ने उस कथा को सुनाया।

सूतजी ने आगे कहा—

'हे मुनियो, मैंने भी उस कथा को सुना था। मैं भी जनमेजय के नागयज्ञ में शामिल हुआ था। उसके बाद मैं कुरुक्षेत्र गया। वहीं से सीधे यहाँ आ रहा हूँ। आप लोग आज्ञा दें कि किस कथा को मैं आप लोगों को सुनाऊँ? पुराणों की सुनाऊँ, राजाओं की अथवा ऋषि-मुनियों की?'

इस पर सभी लोगों ने प्रार्थना की, 'महाराज, आप हमें उस कथा को सुनायें, जो राजा जनमेजय के नागयज्ञ पर वैशम्पायनजी ने सुनायी थी।'

शौनक ऋषि के इस यज्ञ में सूतजी ने कथा सुनानी शुरू की। उनकी मोहिनी वाणी में सभी सुनने वाले डूब गये। सूतजी ने कहा—

'हे ऋषियों, यह भारती कथा, जिसे मैं आप लोगों को सुना रहा हूँ, कोई और नहीं है। यह तो इस देश की उस बहुत बड़ी लड़ाई की कथा है, जिसको कि आप लोग और हम, सभी अपनी आँखों देख चुके हैं, अपने कानों सुन चुके हैं। इस कथा में पुराण, इतिहास और पुरानी कहानियों का मेल है। लेकिन जिस कथा को मैं सुनाने जा रहा हूँ, उसमें कुछ बातें नयी भी हैं।'

इसके बाद सूतजी ने ऋषि-मुनियों को कौरव-पाण्डवों की कहानी सुनायी।

इस तरह व्यासजी की लिखायी हुई कथा को पहले उनके शिष्य वैशम्पायनजी ने कहा। उसी को फिर सूतजी ने दुहराया। व्यासजी ने उस कथा को गणेशजी से लिखवाया था। उसमें पाण्डवों की विजय का वर्णन था। इसलिए उसको 'जय' नाम से कहा गया। वैशम्पायनजी ने जिस कथा को जनमेजय के नागयज्ञ के समय सुनाया था उसमें भरतवंश का बखान था। इसलिए उसका नाम 'भारत' पड़ा। उसके बाद शौनक ऋषि के यज्ञ के समय जिस कथा को उग्रश्रवा सूतजी ने दुहराया था उसमें अनेक छोटी-छोटी कथाएँ भी जुड़ गयीं जिससे कि वह कथा महान् या भारी हो गयी। इसी महानता या भारीपन के कारण उसको 'महाभारत' के नाम से कहा गया।

इस सम्बन्ध में एक बात याद रखने की है। वह यह कि सूतजी ने जब कथा कही

तो सुनने वालों को यह छूट थी कि वे जहाँ पर शंका हो, बीच-बीच मे, पूछ भी सकते हैं। इस छूट के कारण सुनने वाले लोग बीच-बीच में प्रश्न करते गये। इस तरह कथा रुकती गयी और उसमें पूछे गये प्रश्न और उत्तर भी शामिल होते गये। व्यासजी की मूल कथा में कुछ उप कथाएँ तो वैश्म्पायनजी ने जोड़ीं। इन्हीं उपकथाओं या अन्तर्कथाओं, अथवा दूसरी कथाओं का बहुत बड़ा हिस्सा सूतजी के द्वारा शामिल हो गया।

मूल कथा सहित ये उपकथाएँ कितनी थीं, इसको बताना असम्भव है। लेकिन उनका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि वे छियासी हजार लोगों के बीच कही गयीं। इसलिए उसमें प्रश्न और उत्तर भी अधिक हुए होंगे। वह कथा इतनी लम्बी हुई कि उसे लगातार बारह वर्षों तक सुनाया गया।

इस तरह 'महाभारत' कहानियों की कहानी बन गया।

इस प्रकार महाभारत के साथ कई लोगों के नाम जुड़े हैं। सबसे पहले तो उन सूतों-चारणों, साधु-सन्तों और ब्राह्मण-पुरोहितों को याद किया जाना चाहिए, जिनके नाम-मात्र का आज कुछ पता नहीं। उनके बाद कृष्णद्वैपायन वेदव्यास का नाम है जिन्होंने अनेक कथाओं को एक सूत्र में पिरोया और सँजोया। उसके बाद वैशम्पायन, संजय और सौति का नाम है जिन्होंने इस कथा को समाज में फैलाया। इस प्रकार 'महाभारत' की यह कथा कई कर्ताओं, वक्ताओं के द्वारा आज हम तक पहुँची।

'महाभारत' के हर एक पर्व के अन्त में उसे 'संहिता' नाम से कहा गया है। 'संहिता' उसे इसलिए कहा गया कि उसका समय-समय पर संग्रह-संकलन किया गया। पहले-पहल कौरव-पाण्डव की कथा को चारणों तथा सूतों ने वीर-गीतों के रूप में गाया। बाद में इन्हीं कथाओं को अपने ढंग से पिरोकर कृष्णद्वैपायन वेदव्यास ने 'महाभारत' के रूप में कहा। उसमें कौरव-पाण्डवों की कथा के अलावा धर्म, समाज, दर्शन के आख्यान और ऋषियों की कथाएँ भी हैं।

उसमें त्याग, वैराग्य, क्षमा, दया, करुणा और उदारता की भी छोटी-छोटी कथाएँ हैं। उसमें पक्षु-पक्षियों, देव-दानवों, भूत-प्रेतों और साधु-सन्तों की भी बातें है। इन मनोरंजक कथाओं को कहने वाले अनेक लोग थे। इस तरह उसमें घर, परिवार, समाज और यहाँ तक कि वीतराग साधु-सन्तों की कथाएँ भी सम्मिलित हो गयीं।

इस तरह 'महाभारत' पूरी मनुष्य जाति के जीवन की लम्बी कहानी बन गयी। उसके इस रूप को देखकर ही विदेशी लोगों ने उसे एक ऐसे विश्वकोश का नाम दिया, जिसमें सभी कुछ पाया जाता है। अपनी इन अनेक तरह की विशेषताओं के कारण 'महाभारत' को पाँचवें वेद के नाम से भी कहा गया। उसके बारे में कृष्णद्वैपायन वेदव्यास ने खुद ही लिखा है, 'जैसे दही में मक्खन, मनुष्यों में ब्राह्मण, वैदिक साहित्य में आरण्यक, औषधियों में अमृत, जलाशयों में समुद्र और चार पैर वालों में गाय श्रेष्ठ है उसी तरह सारे इतिहासों में 'भारत' श्रेष्ठ है।

इस प्रकार 'महाभारत' हमारे इतिहास की ही नहीं, धर्म की पुस्तक भी बन गयी। उसने लौकिक संस्कृत के नये युग को तो जन्म दिया ही, साथ ही उस युग के

लिए वह प्रेरणा का भी स्रोत बना।

'रामायण' और 'महाभारत' की इस चर्चा के बाद 'वृहत्कथा' का स्थान है। यह 'वृहत्कथा' क्या है, उसका लेखक गुणाढ्य कौन था, आगे चर्चा की गयी है। 'रामायण' और 'महाभारत' की तरह 'बृहत्कथा' भी अपने-आप में एक मनोरंजक कहानी है।

गुणाढ्य और उनकी बृहत्कथा

जीवनी और समय

संस्कृत की इस कहानी को 'रामायण' और 'महाभारत' ने नया जीवन दिया। वेदों और उपनिषदों के युग को उन्होंने पीछे छोड़ दिया। समाज, जो कि नयी बातों और नये विचारों को चाहता था, उसकी माँग को पूरा किया। यही कारण है कि उनके नाम पर ही उस युग का नामकरण हुआ। उनकी अमरता की यह सबसे बड़ी यादगार है।

'रामायण' और 'महाभारत' के जोड़ की एक तीसरी भी पुस्तक संस्कृत में है। उसका नाम है 'बृहत्कथा'। 'बृहत्कथा' बहुत बाद की पुस्तक है। 'रामायण' और 'महाभारत' के लगभग एक हजार वर्ष बाद उसको लिखा गया। लेकिन हमें यह जानकर आश्चर्य होता है कि जनता के जीवन को प्रभावित करने में 'बृहत्कथा' का योग किसी तरह कम नहीं है। इसी तरह साहित्य में भी उसको बहुत अपनाया गया।

'रामायण' और 'महाभारत' की कहानियों से जनता को जो लगाव रहा है उसको 'बृहत्कथा' की कहानियों ने और भी पुष्ट किया। जिस तरह जन-जीवन में उसी तरह साहित्य में भी उसको आदर-सम्मान मिला। उसके प्रभाव और उसकी प्रेरणा से साहित्य में एक नयीं धारा बही। काव्यों और नाटकों के अलावा कथा साहित्य का निर्माण 'बृहत्कथा' की प्रेरणा से ही हुआ। संस्कृत का सारा लोक साहित्य 'बृहत्कथा' पर ही आधारित है। सच बात तो यह है कि जन जीवन के कण्ठ में साहित्य की जो थाती कथाओं के रूप में जीवित थी उसी लोक भावना को गुणाढ्य ने 'बृहत्कथा' में बाधा।

'बृहत्कथा' इस समय नहीं मिलती है। लेकिन उसके बारे में अनेक तरह की सूचनाएँ मिलती हैं। उसके बारे में कहा जाता है कि वह मृतभाषा या पैशाची भाषा में लिखी गयी ती। पुराने जमाने में मध्य प्रदेश और काश्मीर में इस भाषा को कुछ लोग बोलते थे। आज यह भाषा कहीं भी नहीं बोली जाती।

'बृहत्कथा' के बारे में दूसरी पुस्तकों से अनेक तरह की बातें मालूम होती हैं। एक बात यह मालूम होती है कि उसको किसी सातवाहन राजा के समय में लिखा गया था। दक्षिण भारत के आन्ध्र प्रदेश में इन सातवाहन राजाओं ने राज्य किया। लगभग तीन सौ वर्षों तक उनका राज्य बना रहा। ये सातवाहन राजा संस्कृत के बड़े प्रेमी थे। वे संस्कृत के भी अच्छे जानकार थे। संस्कृत उनके दरवार की बोल-चाल और राजकाज की भाषा थी। उनके दरवार में संस्कृत के नामी कवि रहा करते थे।

उनके समय संस्कृत में सैकड़ों नयी पुस्तकें लिखी गयीं। उनका समय संस्कृत के लिए 'स्वर्णयुग' था।

उन्हीं सातवाहन राजाओं के यहाँ गुणाढ्य रहा करता था। दक्षिण भारत पर इन सातवाहन राजाओं ने ७३ ईसवी पूर्व से लेकर २१८ ईसवी तक राज्य किया। इस आधार पर मोटे तौर से गुणाढ्य को आज से लगभग अठारह सौ वर्ष पहले माना जा सकता है।

गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' अब नहीं रही। लेकिन उसके तीन छोटे-बड़े रूप आज भी मिलते हैं। उनके नाम हैं— १. बृहत्कथा श्लोक संग्रह, २. बृहत्कथा मंजरी और, ३. कथासरित्सागर। इनके बारे में आगे लोककथाओं की चर्चा में बताया गया है।

गुणाढ्य कब और कहाँ हुए इस पर 'कथासरित्सागर' में एक पूरी कहानी लिखी गयी है। इस कहानी में 'बृहत्कथा' के बारे में भी बहुत सी बातें बतायी गयी हैं। गुणाढ्य की यह आत्मकथा अपने-आप में बड़ी रोचक है। कथा इस प्रकार है।

पार्वतीजी के कहने पर एक बार भगवान् शंकर ने उन्हें विद्याधरों की कथा सुनायी। उन्होंने कहा—पहले जन्म में पुष्पदत्त और माल्यवान नाम के मेरे दो गण थे। उनको पार्वतीजी ने शाप दे दिया था। दूसरे जन्म में वे वररुचि और गुणाढ्य के नाम से पैदा हुए। उनका जन्म कौशाम्बी में हुआ था। वह कौशाम्बी इलाहाबाद से लगभग बत्तीस मील की दूरी पर है।

बड़ा होकर एक दिन गुणाढ्य विन्ध्यवासिनी देवी के दर्शन करने के लिए गया। वहाँ उसकी भेंट काणभूति नामक पिशाच से हुई। पिशाच ने गुणाढ्य से उसकी आत्मकथा सुनाने के लिए कहा। गुणाढ्य ने अपनी कथा सुनाते हुए कहा—

मेरा जन्म सुप्रतिष्ठित नाम के शहर में हुआ था। मेरी माता का नाम शुतार्था और मेरे पिता का नाम कीर्तिसेन था। वत्सक और गुल्मक नाम के मेरे दो मामा थे। मेरे पैदा होने के कुछ समय बाद ही मेरी माता और मेरे दोनों मामाओं का स्वर्गवास हो गया।

मैं दक्षिण में पढ़ा-लिखा। मैं अपने घर आया। अपने गुजारे के लिए मैंने एक महाजन से कुछ कर्जा लिया। थोड़े दिनों इसी तरह गुजर-बसर करने के बाद मैं राजा सातवाहन के दरबार में गया। वहाँ दरबार के मन्त्रियों से मिला। उन्होंने मेरे साथ अच्छा व्यवहार किया। राजा से जाकर मेरी प्रशंसा की। राजा ने खुश होकर मुझे अपना एक मन्त्री बना लिया। वहीं मैंने अपना विवाह किया। राजकाज को चलाने के साथ-साथ मैं राजकुमारों और दूसरे बालकों को पढ़ाया भी करता था।

राजा सातवाहन कम पढ़ा-लिखा था। एक बार अपनी रानियों की बात को ठीक न समझने के कारण उसको नीचा देखना पड़ा। अपनी मूर्खता पर उसे दुःख हुआ। उसने मन-ही-मन प्रतिज्ञा की, 'या तो पढ़ लिखकर विद्वान् बनूंगा, या मर जाऊँगा।'

वह मेरे पास आया। उसने मुझसे कहा, 'एक आदमी कितने दिनों में विद्वान् बन सकता है?' मैंने कहा, 'छः वर्ष में।' उसके बाद राजा अपने दूसरे मन्त्री शर्व शर्मा के पास गया। उससे भी राजा ने वही प्रश्न किया। शर्व शर्मा ने राजा को छः महीने में ही विद्वान् बना देने को कहा। राजा मेरे पास आया। उसने मुझे शर्व शर्मा की बात बतायी।

मैंने राजा से कहा, 'अगर वह ऐसा कर देगा तो मैं संस्कृत, प्राकृत और अपनी भाषा बोलना छोड़ दूँगा।'

मेरी इस प्रतिज्ञा से शर्व शर्मा के सामने कठिन समस्या पैदा हुई। अपनी बात को पूरी करने के लिए वह स्वामी कार्तिक की तपस्या करने गया। कार्तिक स्वामी ने उसकी तपस्या से खुश होकर उसको एक गुर बताया। उससे शर्व शर्मा ने ठीक छः महीने में राजा सातवाहन को विद्वान् बना दिया।

मैंने भी अपनी प्रतिज्ञा पूरी की। तभी से मैंने संस्कृत, प्राकृत और देश भाषा में बोलना छोड़ दिया। फिर मैं विन्ध्यवासिनी देवी के दर्शन के लिए गया। वहाँ जाकर मैंने काणभूति पिशाच को अपनी यह कहानी सुनायी। इसी कहानी को काणभूति पिशाच ने मुझे पैशाची भाषा में सुनाई। कहानी सुन लेने के बाद मैंने उसे पूरे सात वर्षों में अपने खून से लिख डाली। वह पैशाची भाषा में थी। मेरी यह कहानी सात लाख श्लोकों में थी, इस कहानी को मैंने 'बृहत्कथा' नाम दिया।

अपनी इस कहानी को बाद में मैंने अपने छात्रों को पढ़ाया। अपने छात्रों के जरिये मैंने इस आत्मकथा, याने 'वृहत्कथा' को राजा सातवाहन के पास भेजा। राजा से मैंने यह निवेदन किया कि वह इस कथा को छपवा दें। लेकिन उसने उसको पसन्द नहीं किया और मेरे पास लौटा दिया।

इस घटना से मुझे भारी आघात लगा। मैंने जंगल में जाकर अपने खून से लिखी इस आत्मकथा के एक-एक पृष्ठ को पक्षियों को सुनाना शुरू किया। जिस पृष्ठ को मैं सुना लेता उसी को फाड़ कर आग में जला देता था। इस प्रकार जीवन से निराश और दुःखी होकर मैंने अधिकतर 'बृहत्कथा' को आग की भेंट कर दिया।

इसी बीच एक दिन मेरे कुछ छात्र मेरे पास आये। उन्होंने मुझसे कहा, 'जितना हिस्सा बच गया है, कृपया अब उसे हमें दे दीजिए।' अब केवल एक लाख श्लोक बच पाये थे। उनमें नरवाहन दत्त की कथा थी। उसको उन्होंने मुझसे ले लिया।

इधर सातवाहन राजा अपनी मरण शय्या पर पड़ा था। अपने जीवन की आखिरी घड़ियाँ गिन रहा था। वैद्यों ने उसकी नब्ज देखी। उन्होंने बताया कि सूखा मांस खा लेने के कारण राजा बीमार हुआ। इस पर उन शिकारियों को बुलाया गया, जो जंगल से पक्षी मार कर लाते थे। उन्होंने बताया, 'जंगल में एक ब्राह्मण पशु-पक्षियों को गा-गाकर कथा सुनाया करता है। वे कथाएँ इतनी रोचक और अच्छी थीं कि उन्हें सुनते हुए जंगल के पशु-पक्षी अपना खाना-पीना भूल गये। इससे वे सूखने लगे। इसलिए पक्षियों का अच्छा मांस नहीं मिला।'

इस बात को सुनते ही राजा चौंक पड़ा। न जाने उसमें कहाँ से शक्ति आई। वह जंगल की ओर दौड़ पड़ा। वह आया और मेरे पैरों पर लेट गया। जो कथा बच पायी थी उसे दे देने के लिए उसने मुझसे प्रार्थना की। मैंने वह एक लाख श्लोकों की बची हुई कथा अपने शिष्यों से लेकर राजा सातवाहन को दे दी।

गुणाढ्य और उसकी 'बृहत्कथा' की यही कहानी है। इसे 'कथा सरित्सागर' में

दिया गया है। इस कहानी के बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता कि यह कहाँ तक सही है। लेकिन उसको एकदम गलत तथा गढ़ी हुई भी नहीं कहा जा सकता है।

दूसरी पुस्तकों में बृहत्कथा की चर्चाएँ

'बृहत्कथा' का जनता के मन में वही आदर-सम्मान था, जो 'रामायण' और 'महाभारत' का। न केवल जनता के, बल्कि साहित्य में भी उसको बहुत बड़े स्तर पर अपनाया गया। कवियों और लेखकों की वाणी पर वह कई युगों तक चढ़ी रही। उससे लोक ने और कवियों ने नयी-नयी प्रेरणाएँ लीं।

संस्कृत के कुछ लेखकों ने 'वृहत्कथा' के बारें में कई तरह की बातें कही हैं। 'दशरूपक' के लेखक धनंजय ने लिखा है, 'उनके समय 'रामायण' और 'महाभारत' की तरह 'बृहत्कथा' का भी बड़ा आदर-सम्मान था। जनता बड़े चाब से उसकी कथाओं को सुनती और उनसे मनोरंजन करती थी।' (दशरूपक १-६८।)

'आर्यासप्तशती' के लेखक गोवर्द्धनाचार्य ने तो उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। उन्होंने लिखा है, 'रामायण, महाभारत और बृहत्कथा के लेखक हमारी वन्दना के पात्र हैं। उनका हम आदर करते हैं। 'रामायण' और 'महाभारत' तो गंगा और यमुना की तरह हैं। लेकिन 'बृहत्कथा' सरस्वती की तरह है। जिस तरह ये तीनों नदियाँ भारत की धरती का शृंगार हैं, खुशहाली देने वाली हैं। उसी तरह ये तीनों महान् पुस्तकें भी इस देश के साहित्य की चेतना हैं। उनसे इस देश का साहित्य फला-फूला और आगे बढ़ा।' (आर्यासप्तशती।)

'काव्यादर्श' के लेखक दण्डी ने लिखा है, 'बृहत्कथा' भूत भाषा या पैशाची भाषा में लिखी गयी थी। उसमें ऐसी कथाएँ थीं, जो पढ़ने वाले को चकित कर देती थीं।' (भूतभाषामयीं प्राहुरद्भुतार्थां बृहत्कथाम्। *काव्यादर्श*-१-३८।)

इसी तरह 'नलचम्पू' के लेखक त्रिविक्रम भट्ट का कहना है, 'बृहत्कथा' की कहानियाँ बड़ी ही सुन्दर थीं। उनको पढ़कर लोग हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाते थे। (नलचम्पू भूमिका श्लोक १४।)

'बृहत्कथा' की प्रशंसा में बाण ने लिखा है, 'वह भगवान शंकर की लीलाओं की तरह तीनों लोकों को लुभाने और चकित कर देने वाली महानु कथा थी (समुद्दीपितकन्दर्पा कृतगौरीप्रसाधना। हरलीलेव नो कस्य विस्मयाय बृहत्कथा। हर्षचरित, भूमिका, श्लोक १८।)

इन बातों को पढ़कर हमें 'बृहत्कथा' के बारे में कई तरह की सूचनाएँ मिलती हैं। ऐसा मालूम होता है कि कथाओं का वह बड़ा भारी भण्डार था। बालक से लेकर बूढ़े तक, पढ़े-लिखे से लेकर अनपढ़ तक सभी उन कथाओं से परिचित थे।

संस्कृत के कवियों और कथाकारों के लिए 'बृहत्कथा' ने प्रेरणा और चेतना का काम किया। वह आज भले ही हमारे सामने नहीं है। लेकिन उसकी महान् विरासत आज भी हमारे पास है। उसकी प्रेरणा से संस्कृत में अनेक काव्य, नाटक और कहानियाँ लिखी गयीं। भारत के ओर-छोर तक उसका गौरव और उसकी गरिमा फैली हुई है।

इस तरह संस्कृत-साहित्य में गुणाढ्य और उनकी 'बृहत्कथा' का नाम अमर है। गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' का ही क्यों, 'रामायण' और 'महाभारत' को भी कभी नहीं भुलाया जा सकता है। उनका प्रभाव इस धरती के कण-कण में हैं, जिसमें हमने जन्म लिया है। इसलिए युग-युगों तक हमारे जीवन से उनका अटूट सम्बन्ध है।

'रामायण', 'महाभारत' और 'बृहत्कथा' की यह कहानी यहीं पूरी हो जाती है। लेकिन उनके जरिए जिस नयी कहानी का जन्म हुआ उसको जानना अभी शेष है। आगे की इस कहानी को हम 'संस्कृत साहित्य के मुख्य सन्देश' से शुरू करते हैं। इसमें यह बताया जायगा कि संस्कृत भाषा ने, उसके साहित्य ने इस देश को और संसार की समस्त मानव जाति को क्या दिया। उसकी ऐसी कौन-सी देन है, जो संसार की किसी भी भाषा के साहित्य में नहीं पायी जाती। इसी बात को हम आगे पढ़ेंगे।

□□

४

कालिदास और उनका युग

कालिदास और उनके युग में चार कवियों एवं नाटककारों के बारे में लिखा गया है। कालिदास के अलावा उनके नाम हैं— भास, अश्वघोष और शूद्रक। इस युग में अन्य कवि और लेखक भी हुए। व्याकरण, कोश और आयुर्वेद जैसे विषयों पर भी पुस्तकें लिखी गयीं। पुराणों और जैन-बौद्धों के साहित्य का भी यही युग रहा। इसी युग में दर्शनशास्त्र का विकास हुआ। लेकिन उन सबको छोड़ कर केवल चार कवियों पर ही लिखा गया। इन चारों कवियों ने जनजीवन को अत्यधिक प्रभावित किया और बाद के साहित्यिक ग्रन्थ भी उनसे अनुप्राणित हुए।

कोश, आयुर्वेद, ज्योतिष और दर्शन आदि ऐसे शास्त्र हैं, जो कि पण्डितों के समझ के विषय हैं। सामान्य जन-जीवन से उनका सीधा सम्बन्ध नहीं है। आदि से लेकर अन्त तक वे इसी रूप में बने रहे। सभी युगों में संस्कृत के जिस अंग का जनता से सम्बन्ध बना रहा वह काव्य-नाटक ही है।

वाल्मीकि और व्यास के बाद भास, कालिदास, अश्वघोष और शूद्रक ने ही कविता की थाती को आगे बढ़ाया। आगे की कई पीढ़ियों तक कालिदास ने संस्कृत साहित्य को प्रभावित किया। इसलिए संस्कृत साहित्य में उनके नाम से इस युग का नामकरण हुआ।

संस्कृत की इस कहानी में कालिदास के युग की सीमाओं पर पहले विचार किया गया है। उसके बाद इस युग की विशेषताओं पर विचार किया गया है। इस युग के चार प्रमुख कवियों एवं नाटककारों के बारे में जितनी बातें मालूम होती हैं उनको क्रमशः प्रस्तुत किया गया है।

कालिदास के युग की सीमाएँ

महर्षि वाल्मीकि और बादरायण व्यास ने संस्कृत को नयी वाणी दी। उसे नये स्वर और दिशाएँ दीं। उन्होंने संस्कृत भाषा को वेद की सीमाओं से निकाल कर लोक के सामने रखा। इसलिए वे लोक कवि हुए।

'रामायण' और 'महाभारत' के रूप में मिली संस्कृत की इस महान् विरासत को भास और कालिदास ने आगे बढ़ाया। संस्कृत की इस थाती को आगे बढ़ाने के लिए और लोगों का भी योग रहा। लेकिन जिन लोगों ने विशेष कर जनता के लिए

लिखा, जिनको जनता ने पसन्द किया, उनमें भास और कालिदास ही पहले आते हैं।

भास और कालिदास को जनता ने क्यों पसन्द किया। इसका भी एक कारण था। भास और कालिदास जनता के बीच से आये और हमेशा जनता के बीच ही बने रहे। उन्होंने जो कुछ लिखा उसमें उनके अपने अनुभव और आँखों देखी बातें थीं।

भास और कालिदास के काव्य ने जनता के मन पर असर डाला। उससे समाज में नयी चेतना जगी। संस्कृत के लिए लोगों का अनुराग बढ़ा। एक नहीं, अनेक लेखकों ने कलम सँभाली। संस्कृत की नयी-नयी दिशाएँ खुलीं। अनेक विषयों की पुस्तकें लिखी जाने लगीं। इस तरह संस्कृत का भण्डार भरने लगा। इस कहानी को आगे बढ़ाने से पहले हमें यह जान लेना चाहिए कि भास और कालिदास का नाम एकसाथ क्यों लिया जाता है। जैसा कि हम आगे पढ़ेंगे, हमारे इन दोनों लेखकों के बीच कई सौ वर्षों की दूरी है। भास के लगभग तीन-चार सौ वर्ष बाद कालिदास हुए। इतने लम्बे समय को एकसाथ जोड़ने का हमारा आधार क्या है। साथ ही हमें यह भी जान लेना चाहिए कि इस युग को हम 'कालिदास का युग' क्यों कहते हैं? इस युग के भीतर भास को रखने का क्या आधार है।

इसका उत्तर पाने के लिए हमें भास और कालिदास की पुस्तकों में जाना होगा। असल बात यह है कि कालिदास ने जिस युग को जन्म दिया उसकी भूमिका उनसे पहले ही तैयार हो चुकी थी। इस भूमिका को तैयार किया था भास ने। भास मौर्य राजाओं के समय हुए। मौर्य राजा संस्कृत के बड़े प्रेमी थे। उनके समय में संस्कृत के कई विषयों पर पुस्तकें लिखी जा रही थीं। पुराण, धर्म अर्थ और दर्शन—इन चारों विषयों की उस समय पर्याप्त चर्चा थी। लेकिन ये चारों विषय ऐसे थे, जो साधारण जनता की पहुँच से परे थे। वे पढ़े-लिखे लोगों के ही लिए थे।

ऐसे समय में भास ने लेखनी सँभाली। उन्होंने जनता की रुचि को पहचाना। जनता की बातें जनता के लिए कही। उन्हें संस्कृत का सबसे पहला नाटककार माना जाता है। अपने नाटकों में उन्होंने अपने युग के समाज की सुन्दर झाँकियाँ प्रस्तुत कीं। लोगों ने उनको खूब अपनाया। उनके नाटक खेले गए। उनसे लोगों का मनोरंजन हुआ। इस तरह भास ने संस्कृत के लिए जनता की रुचि को जगाया।

भास के बाद लोकरुचि का यह विषय लगभग धुँधला पड़ता गया। इस दिशा में जो छिट-पुट काम हुए भी वे लोक की माँगों को पूरा करने में अक्षम रहे। भास की इस थाती को सँभाला कालिदास ने। भास के नाटकों ने जनता का संस्कृत से नाता जोड़ा था। उसको कालिदास ने और भी मजबूत किया।

कालिदास ने भास की थाती को सँभाला तो अवश्य, लेकिन उसको वे सँभाल पाएँगे, इसका उनके मन में कुछ संदेह बना रहा। उन्होंने अनुभव किया कि भास जैसे नाटककार के नाटकों के आगे मेरे नाटकों को जनता अपनायेगी भी या नहीं ('प्रथितयशसां भाससौमिल्लक कविपुत्रादीनां प्रबन्धानतिक्रम्य वर्तमानकवेः कालिदासास्य क्रियायां कथं परिषदो बहुमानः।' मालविकाग्निमित्र की प्रस्तावना)। उन्होंने स्वयं ही यह

बात कही। ऐसा कहकर उन्होंने भास के प्रति अपने आदर-भाव को प्रगट किया।

इस तरह भास ने संस्कृत की धरा पर जो नया बीज बोया था, जो नयी पौध उगायी थी उसको कालिदास ने सींच कर हरा-भग़ा बनाया।

कालिदास का समय ईसा से एक सौ वर्ष पहले माना जाता है। उनके बाद लगभग सात-आठ सौ वर्षों तक संस्कृत का जनता से अटूट सम्बन्ध बना रहा। इस बीच जो सैकड़ों पुस्तकें लिखी गयीं उन पर किसी-न किसी रूप में कालिदास की छाप रही। कालिदास की कविता ने जनता और लेखकों, दोनों के मन को मोह लिया।

संस्कृत-साहित्य में कालिदास ही एक ऐसे कवि हुए, जिनको इतने लम्बे समय तक और इतनी गहराई से अपनाया गया। उनके युग को संस्कृत का 'स्वर्ण युग' कहा जाता है। इस स्वर्ण गुण की सीमाएँ भास से लेकर भवभूति तक पहुँचती हैं।

इस युग में कई कवि, महाकवि, नाटककार, गद्यकार और कथाकार हुए। उन सब ने कालिदास की 'भारती' से प्रेरणा ली। उनकी संख्या सैकड़ों तक पहुँचती है। उनमें से कुछ की ही हम यहाँ चर्चा करेंगे। कालिदास के युग में हम भास, अश्वघोष और शूद्रक—इन तीन लेखकों को रखना उचित समझते हैं।

उनके बाद भर्तृहरि, भारवि, माघ, वाण, श्रीहर्ष और भवभूति की चर्चा करेंगे। इन कवियों और नाटककारों के समय को 'संस्कृत का उत्कर्ष युग' कहा गया है।

कालिदास के इस युग को हम भास से प्रारम्भ करते हैं। भास की चर्चा करते हुए यहाँ उनकी जीवनी, समय, पुस्तकें और कविता के बारे में बताया गया है। भास क्योंकि संस्कृत के पहले नाटककार हैं इसलिए पहले नाटक के जन्म की कहानी बतायी गयी है।

भास और उनका युग

नाटक का जन्म

भास संस्कृत के प्रथम नाटककार हैं। भास के और उसके नाटकों के बारे में जानकारी करने से पहले नाटकों के विषय में कुछ बातें जान लेनी जरूरी हैं। संस्कृत के नाटकों के बारे में यह इसलिए भी जरूरी है कि उनके अपनी अलग शैली और शास्त्र हैं।

नाटक क्या है, इस बारे में हम थोड़ा-बहुत अवश्य जानते हैं। लेकिन हममें से कुछ ही इस बात को जानते हैं कि हमारे समाज में नाटकों को कब से अपनाया गया। उनको समाज ने क्यों अपनाया, इसकी जानकारी भी हमारे लिए आवश्यक है। इन दोनों बातों को जान लेने के बाद नाटक को जान लेने में सुविधा होगी।

संस्कृत की जिस कहानी को अब तक हम पढ़ आये हैं, उससे आगे की कहानी और भी रोचक है। इस कहानी को रोचक बनाने का काम किया नाटकों ने। यदि हम नाटकों के पिछले इतिहास को देखते हैं तो हमें मालूम होता है कि भास और कालिदास से भी हजारों वर्ष पहले उनको हमने अपना लिया था।

वेदों के युग का समाज धर्म की भूमि पर टिका था। लोग सरल थे, सुखी थे।

दूसरी बातों में आज के जीवन से उनका जितना भी अलगाव रहा हो, मनोरंजन की चाह उनमें उतनी ही थी, जितनी कि आज के जीवन में है? वे आमोद-प्रमोद पसन्द करते थे। जीवन के लिए मनोरंजन को वे जरूरी समझते थे। उनके मनोरंजनों में नाटक का भी एक स्थान था।

वैदिक युग में शैलूष नाम की एक जाति थी। इस जाति के लोग नाटकों को खेलते थे। नाटक को तब कलाओं में गिना जाता था। इस नाट्यकला में शैलूष जाति के लोग बड़े चतुर थे। ये लोग यज्ञों के अवसर पर नाचने-गाने का काम करते थे। नाचना-गाना उनकी जीविका का साधन था। हमारे देश में नाटक और संगीत की थाती इसी जाति के लोगों के द्वारा आगे बढ़ी।

उसके बाद हम 'रामायण' और 'महाभारत' के युग में आते हैं। इस युग के समाज में नाटकों का अधिक प्रचार-प्रसार देखने को मिलता है। श्रीराम की राजधानी अयोध्या की चर्चा करते हुए वाल्मीकि मुनि ने लिखा है कि वहाँ की जनता में नाटकों का बहुत प्रचार-प्रसार हो चुका था। नाचने-गाने वालों की अपनी मण्डलियाँ थीं। उनके नाच-गान को लोग बड़ी रुचि से देखते और सुनते थे।

इसी तरह 'महाभारत' में लिखा है कि वसुदेवजी के अश्वमेध के समय एक नाटक खेला गया था। उसमें भद्र नामक नट ने अपनी कला को इतने अच्छे ढंग से प्रस्तुत किया कि उससे सभी ऋषि-महर्षि प्रसन्न हो गये। इस खुशी में उन्होंने भद्र नामक नट को यह वरदान दिया कि वह आकाश में उड़ सकता है और अपनी इच्छा से नये-नये रूप बदल सकता है। 'महाभारत' के समय में एक बार राम की कथा को लेकर 'रामायण नाटक' खेला गया था। 'महाभारत' में ही यह लिखा हुआ है।

'महाभारत' के बाद हम ऐसे युग में आते हैं, जो सुख-चैन और समृद्धि का युग था। इस समय भारत पर मौर्य राजाओं का राज्य था। वे मौर्य राजा कला और साहित्य के बड़े प्रेमी थे। उनके राज्य में सभी कलाओं की शिक्षा की व्यवस्था थी। कुशीलव और चारण लोग अपनी मण्डलियों के साथ समाज में नाटक दिखाते और उनसे अपनी जीविका चलाते थे। भास लगभग इसी युग में हुए।

इस प्रकार परम्परा से ही नाटक समाज के आमोद-प्रमोद के साधन बन चुके थे। रास और स्वाँग की जो प्रथा आज भी देश के ओर-छोर तक देखने को मिलती है, नाटक का ही एक अंग थी। ये लोकनाट्य कहे जाते हैं, और भारत की प्रायः सभी भाषाओं में उनको खेलने का प्रचलन है।

जीवनी और समय

समाज की इस रुचि को पहचानने और उसको अधिक रुचिकर बनाकर अपनी रचनाओं के द्वारा समाज के आगे रखने में जिन लोगों ने नाम अर्जित किया उनमें भास का नाम पहले आता है। संस्कृत के वे सबसे पहले नाटककार थे। पहले-पहल साहित्य में कम और लोक में अधिक उनके नाटक अपनाये गये।

भास दक्षिण भारत के थे। भावणकोर को उनकी जन्मभूमि बताया जाता है। उनके बारे में अब तक जो खोज हुई है उसमें यह बताया गया है कि वे आज से लगभग ढाई-हजार वर्ष पहले,यानी ईसा से ४००-५०० वर्ष पहले हुए। उस समय भारत पर मौर्य राजा राज्य करते थे।

भास के बारे में इतना ही मालूम होता है।

भास के नाटक

भास ने तेरह नाटक लिखे। इन नाटकों को खोज निकालने और उनकी सूचना देने का श्रेय महामहोपाध्याय टी०गणपति शास्त्री को है। उनमें से कुछ तो पूरे नाटक हैं और कुछ एकांकी। नाटक आठ और एकांकी पाँच हैं। उनके आठ नाटकों के नाम हैं— १. स्वप्नवासवदत्तम्, २. प्रतिज्ञायौगन्धरायण, ३. बालचरित, ४. पंचरात्र, ५. प्रतिमा नाटक, ६. अभिषेक नाटक, ७. अविमारक, और ८. चारुदत्त। इसी प्रकार पाँच एकांकियों के नाम हैं— १. मध्यमव्यायोग, २. दूतवाक्य, ३. दूतघटोत्कच, ४. कर्णभार, और ५. ऊरुभंग।

इनमें से 'प्रतिमा नाटक' और 'अभिषेक नाटक' 'रामायण' की प्रेरणा से लिखे गये। दूतवाक्य, कर्णभार, दूतघटोत्कच, ऊरुभंग, मध्यमव्यायोग, पंचरात्र और बालचरित ये 'महाभारत' की कथा पर हैं।

प्रतिज्ञायौगन्धरायण और स्वप्नवासवदत्तम् उदयनकथा पर आधारित हैं तथा अविमारक और चारुदत्त कल्पनामूलक हैं।

भास ने ही सबसे पहले एकांकी नाटक लिखे। भास के इन नाटकों को देखकर मालूम होता है कि वे जनता के लिए लिखे गये। उनमें छोटे वाक्य और सरल भाषा का प्रयोग किया गया है।

उनके अधिकतर नाटक समाज को ध्यान में रखकर लिखे गये हैं। उस युग के समाज में जो बुराइयाँ थीं, उनको भी उसमें दिखाने का यत्न किया गया है। उनमें हमें यह भी देखने को मिलता है कि उस युग के समाज का रहन-सहन, आचार-विचार कैसा था। उनके इन नाटकों और एकांकियों का कथासार नीचे दिया जा रहा है।

दूतवाक्य उनके 'दूतवाक्य' नामक एकांकी मे पाण्डव को दूत बनाकर कौरवों के पास भेजते हैं और उनसे समझौता करने को कहते हैं। उधर कौरवों की सभा में द्रौपदी का जो अपमान किया गया उस पर दुर्योधन खुशियाँ मनाता है। अब श्रीकृष्ण समझौते की बात कहते हैं और पाण्डवों को आधा राज्य लौटा देने की शर्त रखते हैं। दुर्योधन उसको ठुकरा देता है।

इस एकांकी में श्रीकृष्ण और दुर्योधन के चरित्रों को दिखाया गया है। इन दोनों के चरित्र का आपसी सम्बन्ध छत्तीसी है। इस एकांकी में यह दिखाया गया है कि हर एक मनुष्य को न्याय पर चलना चाहिए और लोकमत का आदर करना चाहिए।

कर्णभार : 'कर्णभार' नामक दूसरे एकांकी में यह दिखाया गया है कि एक बार कर्ण ने परशुराम से ऐसा कवच-कुण्डल प्राप्त किया था, जिसको पहनने पर कोई भी चोट नहीं कर सकता था। लेकिन परशुरामजी ने कर्ण को यह भी चेतावनी दी थी। कि समय आने पर यह कवच-कुण्डल उसकी रक्षा न कर सकेगा। हुआ भी ठीक यही। अर्जुन के साथ युद्ध करने से पूर्व एक ब्राह्मण का नकली वेश धारण कर इन्द्र, कर्ण से उस कवच-कुण्डल को ले जाता है। इसी कथा को बड़ी सुन्दरता से इस एकांकी में बाँधा गया है।

राजा कर्ण को महादानी कहा गया है। अपने प्राण की परवाह न करके उसने अपने वचनों को निभाया। यहाँ आत्मरक्षा से बढ़कर आत्मधर्म बताया गया है। मनुष्य का यह सबसे बड़ा गुण है।

दूतघटोत्कच : तीसरे एकांकी 'दूतघटोत्कच' में अर्जुन अपने पुत्र के कपटी हत्यारे जयद्रथ के वध की प्रतिज्ञा पूरी करता है। इसमें कथा जैसी की तैसी नहीं है। नाटककार की अपनी स्वतन्त्र सूझ-समझ भी है।

ऊरुभंग : 'ऊरुभंग' भी एकांकी है। इसमें भीम और दुर्योधन का गदायुद्ध-वर्णन किया गया है। इस युद्ध में भीम अपनी गदा से दुर्योधन की जंघाओं (ऊरुओं) को तोड़ देता है। इस प्रकार दुर्योधन का अन्त हो जाता है। इस एकांकी की कथा में कोई विशेषता नहीं है। लेकिन रंगमंच पर ही दुर्योधन का मरण दिखाकर नाटककार ने नाटक के नियमों का पालन नहीं किया। सारे संस्कृत साहित्य में यही एक ऐसा एकांकी है, जिसका अन्त दुःख में किया गया है।

इस एकांकी में नियमों की रेखाओं को लाँघ कर भास ने बड़े साहस का परिचय दिया है।

मध्यम व्यायोग : 'मध्यम व्यायोग' एकांकी में यह दिखाया गया है कि भीम एक ब्राह्मण-पुत्र की रक्षा करके उसकी जगह अपने आप को राक्षसी हिडिम्बा के आगे पेश करता है।

नाटककार ने ऐसा दिखाकर क्षत्रिय धर्म की महानता को बताया है। मनुष्य का मनुष्य के प्रति शायद इससे बड़ा उपकार क्या हो सकता है कि वह दूसरे के लिए अपने प्राणों को निछावर कर दे। नाटककार की यह स्वतन्त्र कल्पना है। लेकिन है बड़ी असर डालने वाली।

पंचरात्र : 'पंचरात्र' नाटक में नाटककार ने एक निराली बात कही है। उसमें दिखाया गया है कि द्रोणाचार्य द्वारा पाँच रातों के भीतर पाण्डवों को खोज निकालने के उपलक्ष्य में दुर्योधन ने उन्हें आधा राज्य लौटा दिया।

नाटककार की यह कोरी कल्पना है, किन्तु कल्पना होने पर भी उससे एक कुतूहल पैदा होता है। यही कुतूहल पैदा करना इस नाटक की विशेषता है।

अभिषेक : 'अभिषेक' नाटक भास की कला का अच्छा उदाहरण है। उसमें बालि का वध, लंका पहुँच कर हनुमान द्वारा सीता को धैर्य बँधाना, रावण को फटकारना, रावण द्वारा लक्ष्मण तथा राम के कटे धड़ों को दिखाकर सीता को छलना, और रावण-वध तथा राज्याभिषेक की कथा बतायी गयी है।

इस नीरस कथा को भास ने सरल बनाने की कोशिश की है। लेकिन कथा को गलत ढंग से प्रस्तुत करके भी नाटककार अपने उद्देश्य में सफल न हो सका।

बालचरित : 'बालचरित' में श्रीकृष्ण के जन्म से लेकर कंस-वध तक की कथा कही गयी है। भास ने सही कथा को तोड़ा-मरोड़ा ही नहीं, उसे अपनी कल्पना से लपेट कर गलत तरीके से भी पेश किया है। कृष्ण के शस्त्र को मनुष्य के रूप में और बैल को बात करते हुए दिखाना— ये घटनाएँ नाटक को विचित्र अवश्य बना देती हैं। इस विचित्रता द्वारा मनोरंजन करना ही नाटककार का ध्येय हो सकता है।

अविमारक : 'अविमारक' नाटक में महाराज कुन्तिभोज की पुत्री कुरंगी और महाराज सौवीर के पुत्र अविमारक की प्रेम कथा कही गयी है। यह नाटक एक लोक-कथा को लेकर लिखा गया है। यह लोक-कथा इस प्रकार है— एक बार राजकुमार अविमारक एक हाथी से राजकुमारी कुरंगी की रक्षा करता है। इस उपकार में वह राजकुमार पर मोहित हो जाती है। उसके कुछ दिन बाद अविमारक राजा कुन्तिभोज के यहाँ पकड़ा जाता है और उसको प्राणदण्ड मिलता है। इसी समय नारदजी आते हैं और सही बातों को बताकर विवाद को हल कर देते हैं। अन्त में दोनों का विवाह हो जाता है।

इस लोककथा को जितने अच्छे तरीके से सजाया जाना चाहिए था, भास ने वैसा नहीं किया।

प्रतिमा नाटक: उनके 'प्रतिमा नाटक' में राम के वनवास से लेकर रावण के वध तक की कथा कही गयी है। 'रामायण' की इस कथा में भी भास ने बीच-बीच में अपनी मनगढ़न्त घटनाओं को जोड़ा है। इन घटनाओं से नाटक में रोचकता बढ़ने की बजाय उलझन पैदा हुई है।

प्रतिज्ञायौगन्धरायण : 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' नाटक में वत्सदेश के राजा उदयन और अवन्ति देश की राजकुमारी वासवदत्ता के प्रेम की कथा कही गयी है। एक बार राजा उदयन अवन्ति के राजा महासेन द्वारा कैद कर लिया जाता है। राजा को जब मालूम होता है कि उदयन संगीत विद्या का जानकार है तो उसे राजकुमारी वासवदत्ता को संगीत सिखाने के लिए रख लिया जाता है। धीरे-धीरे

दोनों में प्रेम हो जाता है। एक दिन दोनों, मन्त्री यौगन्धरायण की मदद से निकल भागते हैं। इस नाटक में इतनी ही कथा है।

स्वप्नवासवदत्तम् : इस अधूरी कथा को 'स्वप्नवासवदत्तम्' में पूरा किया गया है। मन्त्री यौगन्धरायण यह अफवाह फैला देता है कि वासवदत्ता जंगल में जल कर मर गयी है। उदयन भी इस बात को सही समझ लेता है। वासवदत्ता को यौगन्धरायण ने उससे अलग कर लिया था। इसलिए उदयन मगधराज की बहिन पद्मावती से विवाह कर लेता है। एक दिन वह स्वप्न में वासवदत्ता को देखता है। जब उसकी आँखें खुलती हैं तो वह वासवदत्ता को सचमुच अपना सिर दबाते हुए पाता है।

इस बात के खुल जाने से उसको सारी कथा का रहस्य बता दिया जाता है। उसे यह भी बताया जाता है कि राज्य के कल्याण के लिए ज्योतिषियों ने यह फल बताया था कि राजा को पद्मावती से जरूर विवाह करना चाहिए।

इस कथा के सभी पात्र सही हैं। लेकिन इस सारी कथा को अपनी सुन्दर कल्पना से भास ने बड़ा रोचक बना दिया है। एक के बाद दूसरा रहस्य नाटक की सुन्दरता को बढ़ा देता है। ये दोनों नाटक उनकी श्रेष्ठ कृतियों में से हैं।

चारुदत्त : उनका तेरहवाँ नाटक 'चारुदत्त' न केवल उनके नाटकों में, बल्कि सारे संस्कृत साहित्य में अपनी तरह की अकेली कृति है। एक लोककथा पर यह नाटक रचा गया है।

लोककथा इस प्रकार है— उज्जयिनी में सार्थवाह नाम का एक ब्राह्मण था। वह बहुत गरीब था। उसका अपना परिवार था। उसी नगर में वसन्तसेना नाम की एक गणिका रहती थी। नृत्य और संगीत इन गणिकाओं का पेशा होता था। संयोग की बात कि बड़े-बड़े धनवानों को छोड़कर वसन्तसेना का प्रेम एक ऐसे गरीब बाह्मण से हो गया, जो कि परिवारवाला था। लेकिन अपनी विवशताओं एवं लाचारियों के बावजूद ब्राह्मण उस गणिका के आग्रह को न ठुकरा सका।

कथा को यहीं छोड़ कर, कहा जाता है कि उस महान् नाटककार का निधन हो गया।

भास की लेखनी का यह अमर रत्न है। कथा की सरसता की दृष्टि से यह नाटक जितना भी रोचक हो, यह अलग बात है। उसकी खास बात तो यह है कि उसमें एक वेश्या के साथ एक गृहस्थ ब्राह्मण का विवाह करा दिया गया है। समाज की दृष्टि में यह एक बड़े साहस का काम था। भास ने इतने बड़े सामाजिक प्रश्न को उठा कर उसका सही उत्तर भी दे दिया। यह आज की नहीं, उस युग की बात है जब इस बात को अधर्म और अनीति में शामिल किया जाता था और उसके लिए कड़े से कड़े दण्ड रखे गये थे।

आगे चलकर शूद्रक ने इसी कथा को लेकर 'मृच्छकटिक' नामक नाटक लिखा। इस नाटक के बारे में आगे बताया गया है।

इस प्रकार भास ने संस्कृत को एक नयी दिशा दी। भास कवि थे, सफल नाटककार थे। उनको यह सफलता उनके समाज-प्रेम के कारण मिली थी। वे सुधारक तो थे ही, साथ ही कुरीतियों और अन्धविश्वासों को समाज के आगे रखने के लिए उन्होंने अपने नाटक को साधन बनाया। उस समाज में नाटक ही एक ऐसा साधन था, जिसको देखने, पढ़ने और करने के लिए सभी लोगों को इजाजत थी। संस्कृत के कुछ विचारवान ऋषियों के कहने पर स्वयं ब्रह्मा ने नाटक को बनाया था। उसको पाँचवाँ वेद नाम दिया गया। चारों वेदों के पढ़ने का अधिकार सबको नहीं था। मनोरंजन और आमोद-प्रमोद के सभी रास्ते दूसरे लोगों के लिए बन्द थे। यह पाँचवाँ वेद 'नाटक' इसीलिए बनाया गया कि उसमें समाज के सभी लोग शामिल हो सकें और समान रूप से उसका आनन्द ले सकें।

भास ने अपनी बातों को समाज के कानों तक पहुँचाने के लिए इसी उपयोगी साधन को अपनाया। भास के नाटकों को समाज ने अपनाया भी। आज, जबकि संस्कृत का युग पीछे गुजर चुका है, उनके नाटकों की समाज में वैसी ही लोकप्रियता बनी हुई है। दक्षिण के चाक्यार लोग, आज भी भास के नाटकों को खेलते हैं। समाज भी उनको उसी रुचि से अपनाता है।

कालिदास और उनका युग

कालिदास के बारे में कई बातें हम पीछे पढ़ चुके हैं। भारत में उनका जन्म हुआ। लेकिन सारा संसार आज उनको अपना कवि मानता है। भारत की जनता के मन पर उनकी छाप अमिट है। उनको हुए हजारों वर्ष बीत गये। लेकिन उनके लिए देशवासियों में जो प्रेम और आदर है वह ज्यों-का-त्यों है। न जाने कितने पुराने समय से देश के हर भाग में आज भी उनकी जयन्तियाँ मनायी जाती हैं। उनकी यादगार में मेले लगते हैं। उनको सारा देश अपना सबसे प्यारा कवि मानता है। वे इस राष्ट्र की चेतना के साथ घुल मिल गये हैं।

अपने इस महान् कवि के लिए जनता के प्यार का कोई अन्त नहीं। काश्मीर वाले कहते हैं कि वे काश्मीर के थे। उत्तर वाले कहते हैं कि वे उत्तर के थे। इसी तरह दक्षिण वाले कहते हैं कि वह दक्षिण में पैदा हुए थे। उनके बारे में जो नयी खोजें हुई हैं, उनसे यह निश्चित हो गया है कि वे मध्यप्रदेश के थे। उज्जैन से उनका विशेष सम्बन्ध था।

उनके जीवन के बारे में कई तरह की बातें सुनने को मिलती हैं। कहा जाता है कि वे ब्राह्मण के लड़के थे। जब वे बालक थे तभी उनके माता-पिता मर गए थे। उसके बाद उनका लालन-पालन एक ग्वाले ने किया। उनके बारे में यह भी कहा जाता है कि वे निरे अनपढ़ थे। उनकी शादी एक पढ़ी-लिखी लड़की से हुई थी। उसका नाम विद्योत्तमा था। अनपढ़ होने के कारण अपनी स्त्री से एक बार उन्हें अपमानित

होना पड़ा था। इसलिए इस अपमान पर उन्होंने घर-बार छोड़ दिया था। उसके बाद अपना बदला चुकाने के लिए उन्होंने खूब पढ़ा-लिखा।

वर्षों बाद पढ़-लिखकर जब वे घर आये तो उन्होंने अपने घर के दरवाजे बन्द हुए पाए। बाहर ही से उन्होंने दरवाजा खोलने के लिए संस्कृत में कहा। उनकी स्त्री उनकी आवाज को पहचान गयी। उसने भीतर से ही जवाब दिया। जवाब में उसने संस्कृत में कहा, 'वाणी में कुछ सुधार हुआ?' (अस्ति कश्चिद् वाग्विशेषः)।

कहा जाता है कि अपनी स्त्री के इन तीन शब्दों पर उन्होंने खड़े-खड़े ही तीन कविताएँ बना डालीं। उनकी स्त्री के मुख से जो तीन शब्द निकले थे, अपनी तीनों कविताएँ उन्होंने उन तीनों शब्दों से शुरू की। बाद में इन तीनों कविताओं से शुरू करके उन्होंने तीन पुस्तकें कुमारसंभव, मेघदूत और रघुवंश लिख डालीं।

कालिदास के बारे में कही गयी ये बातें सही नहीं जान पड़तीं। उनको लोगों ने गढ़ा है।

उनके बारे में यह कहा जा सकता है कि उनकी पढ़ाई क्रमवार हुई। उस समय के किसी अच्छे विद्यापीठ में उन्होंने शिक्षा पाई थी। वेदों और दर्शनों के वे अच्छे जानकार थे। उन्होंने धर्म, अर्थ और नीति शास्त्रों को भलीभाँति, किसी गुरु के पास बैठकर, पढ़ा था। वे संगीत, चित्र और नृत्य आदि कलाओं के भी अच्छे ज्ञाता थे। वे बड़े विनोदी स्वभाव के थे।

उनकी जीवनी की ही तरह उनके समय के बारे में भी कई तरह की बातें कही जाती हैं। कुछ लोग उन्हें ईसा के दो सौ वर्ष पहले मानते हैं। कुछ का कहना है कि वे ईसा की छठीं शताब्दी में हुए। लेकिन इस बारे में इधर नयी खोजें हुई हैं। उनसे अधिकांश लोगों की राय हैं कि वे ईसवी पूर्व पहली शती में हुए। आज से लगभग बीस-इक्कीस सौ वर्ष पहले।

महाराज विक्रमादित्य के वे राजकवि थे। ये विक्रमादित्य वही हैं, जिनके नाम से हमारा विक्रमी संबत् चला है। इस आधार पर कालिदास को आज से लगभग बीस-इक्कीस सौ वर्ष पहले माना जाता है।

कालिदास की रचनाएँ

कालिदास ने सात पुस्तकें लिखीं। उनके नाम हैं— १. ऋतुसंहार, २. मालविकाग्निमित्र, ३. कुमारसम्भव, ४. विक्रमोर्वशीय, ५. मेघदूत, ६.अभिज्ञानशाकुन्तलम् और ७. रघुवंश। उनमें ऋतुसंहार तथा मेघदूत-खण्डकाव्य कहे जाते हैं। कुमा(रसम्भव और रघुवंश महाकाव्य हैं। शेष मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय और अभिज्ञानशाकुन्तलम् तीनों नाटक हैं।

ऋतुसंहार

ऋतुसंहार, कालिदास का खण्डकाव्य है। जिस काव्य में अलग-अलग कविताएँ होती हैं या जीवन के किसी एक हिस्से के बारे में कहा जाता है, उसे

खण्डकाव्य कहते हैं। हमारे यहाँ बारह महीनों की छः ऋतुएँ मानी गयी है। उनके नाम हैं ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमन्त, शिशिर और वसन्त। इन छः ऋतुओं को 'ऋतुसंहार' के छः अलग-अलग सर्गों में कहा गया है।

इसमें छः ऋतुओं का वर्णन किया गया है। इसीलिए इसको 'ऋतुसंहार' नाम दिया गया। इस छोटे-से गीति काव्य में कालिदास ने मनुष्य की प्रकृति का बाहरी प्रकृति के साथ बड़ा अच्छा मेल दिखाया है। ये ऋतुएँ मनुष्य के स्वभाव की द्योतक हैं। उनमें हमारी भावनाएँ बोलती हैं। इसलिए उनका हमारे जीवन पर प्रभाव पड़ता है। कालिदास की कलम ने तो उनको और भी मोहक बना दिया है। 'ऋतुसंहार' को पढ़ते हुए हमें ऐसा लगता है कि एक-एक ऋतु हमारे सामने आकर खड़ी हो जाती है। शरद-ऋतु का चित्र उतारते हुए कालिदास ने लिखा है—

काशांशुका विकचपद्ममनोज्ञवक्रा
सोन्मादहंसरव नूपुरनाद रम्या।
आपक्वशालिरुचिरातनुगात्रयष्टिः
प्राप्ता शरन्नव वधूरिव रूप रम्या॥

(वह सफेद काँसे की सुन्दर साड़ी पहने हुए है। खिले हुए कमल ही उसका मनोहर मुख है। उतावले हंसों की आवाजें उसके नूपुर हैं। पके हुए धान की बाली उसका सुन्दर शरीर है। इस तरह नयी, नवेली दुलहिन की तरह शरद ऋतु धरती पर उतर रही है।

मेघदूत

मेघदूत उनका दूसरा खण्डकाव्य है। यह भी गीतिकाव्य है। उसके दो भाग हैं— पूर्व मेघ और उत्तर मेघ।

इसकी कथा बड़ी रोचक है। एक दिन अलकापुरी के राजा कुबेर ने अपने सेवक यक्ष को किसी अपराध पर एक वर्ष का देश-निकाला दे दिया। यक्ष की अभी-अभी शादी हुई थी। अपनी नयी-नवेली पत्नी से वह जी भर बात भी न कर पाया था कि उसको देश छोड़ना पड़ा। बड़े दुःखी और भारी मन से अलकापुरी को और अपनी घरवाली को छोड़कर यक्ष रामगिरि की पहाड़ी पर दिन बिताने लगा। यह रामगिरि की पहाड़ी नागपुर के उत्तर में है।

यहाँ आकर यक्ष अपने प्रवास के दिन बिताने लगा। आषाढ़ का महीना आया। वर्षा ऋतु के काले मेघ आसमान पर छा गए। आकाश के उमड़ते-घुमड़ते मेघों ने उसके मन की व्यथा को और भी बढ़ाया। इससे उसका वियोगी मन अपनी पत्नी से मिलने के लिए आतुर हो उठा। उसका दिल भर आया। उसने आषाढ़ के मेघों को अपना सन्देश वाहक बनाया। उन मेघों को पुकारते हुए उसने जो बातें कही हैं वे इतनी मार्मिक हैं कि उनको पढ़ते ही मन भर आता है। अपनी अलका नगरी का परिचय देते हुए यक्ष मेघों से कहता है—

तस्योत्सङ्गे प्रणयिन इव स्त्रस्तगङ्गादुकूलां
न त्वं दृष्ट्वा न पुनरलकां ज्ञास्यसे कामचारिन्।
या वः काले वहति सालिलोद्गारमुच्चैर्विमाना
मुक्ताजालग्रथितमलकं कामिनीण्वाभ्रवृन्दम् ॥ श्लोक ६३ ॥

(हे भाई मेघ, उस कैलाश पर्वत की गोद में, गंगाजी के किनारे पर अलका नाम की नगरी है। वही मेरी जन्मभूमि है। तू उसे देखते ही पहचान लेगा। भैया मेघ, कैलाश के ऊपर गंगाजी के किनारे बसी हुई मेरी यह जन्मभूमि तुझे उस दुलहिन की तरह दिखायी देगी, जो अपने प्रियतम की गोद में बैठी हुई अपनी सफेद साड़ी का आँचल हवा में उड़ा रही होगी।)

इस छोटे से काव्य को पढ़कर विद्वानों का कहना है कि कालिदास ने अगर कुछ भी न लिखा होता तो उनकी कीर्ति अमर बनाने के लिए यही कृति पर्याप्त थी। सारे संस्कृत साहित्य में कालिदास की यह छोटी सी पुस्तक बड़ी ही लोकप्रिय हुई। उसकी नकल पर बाद में अनेक पुस्तकें लिखी गयीं।

कुमारसम्भव

कुमारसम्भव उनका महाकाव्य है। महाकाव्य उसे कहते हैं, जिसमें किसी देवता, प्रसिद्ध व्यक्ति या महापुरुष के जीवन की सभी छोटी-बड़ी घटनाओं को क्रमागत कहा गया हो। इस महाकाव्य में भगवान् शंकर और भगवती पार्वतीजी की कहानी कही गयी है। इसमें सत्रह सर्ग हैं। उसमें जो कहानी कही गयी है उसका सार इस प्रकार है:

हिमालय की पत्नी मैना से उमानाम की एक कन्या पैदा हुई। पर्वत की पुत्री होने के कारण उसको पार्वती भी कहा गया। पार्वती अपने पहले जन्म में राजा यक्ष के घर पैदा हुई थी। उस जन्म में उसका नाम सती था। उस जन्म में भी उसका विवाह शिव के साथ हुआ था। अपने पिता राजा दक्ष के द्वारा अपने पति शिव का अपमान न सह सकने के कारण सती ने शरीर त्याग दिया। उनके वियोग में शंकर भगवान् हिमालय पर तप करने लगे। दूसरे जन्म में सती ने हिमालय के घर फिर जन्म लिया। जब वे बड़ी हुईं तो पिता हिमालय उन्हें उस जगह छोड़ गए जहाँ शिव अपनी समाधि लगाये तप कर रहे थे।

इसी बीच एक नयी बात हुई। तारक नाम के एक राक्षस के द्वारा देवताओं को तरह-तरह की यातना दी जाने लगी। उससे तंग आकर देवता अपने राजा इन्द्र के पास गये। इन्द्र ने कहा, 'शिव से जो पुत्र पैदा होगा, वही तारक को मार सकेगा।' शंकर भगवान् की समाधि तोड़ने के लिए देवताओं ने कोशिश की। उन्होंने कामदेव को यह काम सौंपा। कामदेव अपने मित्र वसन्त के साथ हिमालय पर गये। उन्होंने सारे हिमालय पर बसन्त की छटा बिखेर दी। कहीं कोयल गाने लगी। कहीं भौंरे गुंजार करने लगे। फूलों की बहार से सारा हिमालय गमक उठा। शंकर की समाधि टूटी। उन्होंने सामने पार्वती को पाया। पास ही में कामदेव भी मुसकुरा रहे थे। वे कामदेव

की सारी करतूतें समझ गये। उन्होंने तीसरी आँख खोली और कामदेव को जला डाला। वे वहाँ से चल दिये।

देवताओं का सारा उत्साह ठंडा पड़ गया। कामदेव की स्त्री रति रोने लगी। पार्वतीजी निराश मन अपने घर लौट आईं। उन्होंने सोचा; भगवान् शंकर को रूप की सुन्दरता से नहीं मोहा जा सकता। उनको पाने के लिए कठोर तप करना होगा। वे तपस्या करने बैठ गयीं। कुछ दिनों बाद शंकर भगवान् को मालूम हुआ। वे पार्वती की परीक्षा लेने के लिए ब्रह्मचारी के वेश में आये। उन्होंने पार्वतीजी से शंकर की बड़ी बुराई की। पार्वतीजी उसे सहन न कर सकीं। उन्होंने ब्रह्मचारी को वहाँ से निकल जाने को कहा। तब शंकर भगवान् अपने असली रूप में आये। उन्होंने पार्वतीजी की बातों को मान लिया।

उसके बाद भगवान् शिव ने हिमालय के पास विवाह का प्रस्ताव भेजा। उन्होंने पार्वतीजी के साथ विवाह करने की बात कही। हिमालय मान गये। दोनों का विवाह हुआ। विवाह के समय पार्वतीजी ने शंकर भगवान् से कहा देव, 'मारे हुए कामदेव को जीवित कर दें। उसकी स्त्री दुःखी है।' शंकर भगवान् ने कामदेव को फिर जीवन दे दिया। सभी देवता प्रसन्न हो गये।

कुछ दिनों बाद शंकर-पार्वती से कुमार कार्तिकेय का जन्म हुआ। उन्होंने तारक का वध किया। देवताओं को शान्ति मिली। 'कुमारसम्भव' में यही कथा है।

रघुवंश

रघुवंश कालिदास का दूसरा महाकाव्य है। उसमें १९ सर्ग हैं। जैसा कि उसके नाम से ही मालूम होता है, उसमें राजा रघु के वंश का वर्णन किया गया है। राजा रघु भगवान् श्रीराम के पूर्वज थे। उन्हीं के नाम पर राम के वंश का 'रघुवंश' नाम पड़ा।

रघुवंश, अर्थात् रघुकुल की कथा। उसी कथा को कालिदास ने इस प्रकार कहा है— बहुत पुराने जमाने में दिलीप नाम के एक राजा हुए। वे सूर्यवंशी थे। अयोध्या उनकी राजधानी थी। उनकी स्त्री का नाम था सुदक्षिणा। उनके कोई पुत्र न था। दोनों ने राज्य का सारा भार अपने मन्त्रियों पर सौंपा और दोनों गुरु वशिष्ठ के आश्रम में चले गये। गुरु वशिष्ठ ने उन्हें बताया कि कामधेनु गाय की पुत्री नन्दिनी की सेवा करें। उससे उन्हें पुत्र की प्राप्ति होगी। उन्होंने वैसा ही किया।

तन, मन और प्राण से नन्दिनी की सेवा करते उन्हें बीस दिन बीते। इक्कीसवें दिन एक घटना घटी। जब वह जंगल में चर रही थी, तो एकाएक शेर उस पर झपट पड़ा। तुरन्त ही दिलीप दोनों के बीच कूद पड़े। उन्होंने शेर से नन्दिनी को न मारने की प्रार्थना की। शेर किसी भी तरह राजी न हुआ। राजा दिलीप ने कहा, 'मेरा शरीर ले लें, नन्दिनी को छोड़ दें।' राजा शेर के आगे लेट गया।

राजा की इस सेवा-भक्ति को देखकर नन्दिनी खुश हुई। उसनें राजा से कहा, 'मैने तुम्हारी परीक्षा ली थी। तुम उसमें सही उतरे। मैं तुम्हें वरदान देती हूँ कि तुम्हें पुत्र पैदा हो।'

कुछ महीनों बाद रानी सुदक्षिणा को पुत्र हुआ। उसका नाम रखा गया रघु। जब वह बड़ा हो गया तो, राजा दिलीप और रानी सुदक्षिणा उसको राज्य का भार सौंपकर तप करने के लिए हिमालय पर चले गए।

राजा दिलीप के पुत्र राजा रघु ने बड़े-बड़े काम किये। वे अपनी प्रजा को बड़ा प्यार करते थे। उनके समान दानी उस युग में नहीं हुआ। एक बार उन्होंने विश्वजित यज्ञ किया था। इस यज्ञ को इने-गिने लोग ही कर पाते थे। यदि वह पूरा हो जाता तो समझा जाता था कि उसने संसार को जीत लिया। तब उसको 'चक्रवर्ती' राजा कहा जाता था। यह बहुत बड़ी उपाधि थी, जिसे विरला ही कोई प्राप्त करता था।

इस यज्ञ में रघु ने अपना सारा खजाना दान में दे दिया था। जब उनके पास कुछ भी नहीं था तब एक दिन वरतन्तु ऋषि का शिष्य कौत्स उनके पास आया। उसने रघु से कहा, 'महाराज', मेरी पढ़ाई पूरी हो गई है। अब मुझे अपनें गुरु जी को कुछ दक्षिणा देनी है। रघु के पास कुछ नहीं था। लेकिन दरवाजे से एक ऋषिकुमार को खाली हाथ लौटाना उनके कुल का धर्म नहीं था। इसलिए उन्होंने कुबेर के खजाने से धन लाकर कौत्स को दिया। जाते समय कौत्स ने राजा को बड़ा वीर और प्रतापी पुत्र पैदा होने का वरदान दिया।

राजा रघु का जो पुत्र हुआ उसका नाम अज रखा गया। जब वह बड़ा हुआ तो विदिशा (आजकल जिसे भिलसा कहा जाता है और जो मध्यप्रदेश में है) के राजा की पुत्री इन्दुमती से उसका विवाह हुआ। पुत्र को राजपाट सौंप कर राजा रघु तप करने चले गये। राजा अज भी राजा रघु की तरह बड़े धर्मात्मा और दयालु थे। राजा होने के साथ ही वे बड़े ज्ञानी भी थे।

राजा अज के पुत्र हुए राजा दशरथ। उनकी तीन रानियाँ थीं। उनके नाम थे— कौशल्या, सुमित्रा और कैकेयी। इन तीनों रानियों से महाराज दशरथ को चार पुत्र हुए। कौशल्या से राम, सुमित्रा से लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न और कैकेयी से भरत। एक बार शेर के भ्रम में ऋषिकुमार श्रवण को मार डालने के कारण महाराज दशरथ भी पुत्र के वियोग में तड़प कर मरे।

महाराज दशरथ के बाद 'रघुवंश' के अन्त में राम की कथा कही गयी है। इस कथा से हम सभी परिचित हैं यही 'रघुवंश' की कहानी है।

मालविकाग्निमित्र

'मालविकाग्निमित्र' कालिदास का पहला नाटक है। उसमें पाँच अंक हैं। उसमें राजा अग्निमित्र और मालविका की प्रेम-कथा है। कथा इस प्रकार है—

विदिशा के राजा अग्निमित्र की महारानी का नाम था धारिणी। उनके यहाँ मालवराज माधवसेन की बहन रहा करती थी। उसका नाम मालविका था। वह देखने में बड़ी सुन्दर थी। महारानी धारिणी उसको छिपाये रहती थी। कहीं महाराज उसको देख न लें। महारानी ने मालविका को नाच-गाने की शिक्षा देने के लिए अपनी नाट्यशाला के आचार्य गणदास के सुपुर्द कर दिया था।

महारानी जो न चाहती थीं वही हुआ। एक दिन महाराज को मालविका के बारे में सारी बातें मालूम हो गयीं। वे उसको देख तो न सके लेकिन उन्होंने उसके चित्र को देख लिया। महाराज ने अपने मित्र गौतम को यह काम सौंपा। गौतम किसी तरह मालविका को महाराज से मिलाने का उपाय कर रहा था। इसी समय नाट्यशाला में आचार्य गणदास और आचार्य हरदत्त में झगड़ा हो गया। अपना निबटारा करने के लिए वे महाराज के पास आए। उनका झगड़ा इस बात पर था कि दोनों में कौन बड़ा है। महाराज ने इस झगड़े को निबटाने के लिए कौशिकी को पंच बनाया। कौशिकी विधवा थी और उसने साधु वेश अपना लिया था।

कौशिकी ने फैसला किया कि दोनों आचार्यों के हार-जीत का निर्णय उनके शिष्यों की कला के आधार पर होगा। नाच-गाने में जिसका शिष्य जीतेगा उसी की जीत मानी जायेगी।

नाट्यशाला में दोनों आचार्यों के शिष्यों ने अपना नाच-गान दिखाया। उसमें मालविका की विजय हुई। आचार्य गणदास जीत गए। वहाँ महाराज ने मालविका को और मालविका ने महाराज को अच्छी तरह देख लिया।

उसके बाद दोनों एक दूसरे को चाहने लगे। बीच-बीच में दोनों की मुलाकात भी होती गयी। लेकिन मन की बातें खुलकर न हो सकीं। उसमें राजा अग्निमित्र की दूसरी रानी इरावती बार-बार बाधा डालती रही।

महारानी धारिणी को मालूम हुआ कि महाराज और मालविका को मिलाने में बकुलिका का हाथ है। महारानी ने मालविका सहित दोनों को तहखाने में बन्द कर दिया। गौतम ने किसी तरह दोनों सखियों को वहाँ से छुड़वाया।

इसी बीच मालवराज के यहाँ से दो सेविकाएँ महारानी धारिणी के पास आईं। उनसे महारानी को मालूम हुआ कि मालविका, मालवराज माधवसेन की बहन है। कौशिकी उनके मन्त्री सुमति की विधवा बहन है। उसके बाद महारानी की सलाह से मालविका और अग्निमित्र का विवाह हो गया।

यही इस नाटक की कथा है।

विक्रमोर्वशीय

'विक्रमोर्वशीय' में भी पाँच अंक हैं। इसमें राजा पुरुवा और उर्वशी की प्रेम-कहानी कही गयी है। कहानी इस प्रकार है—

एक बार उर्वशी नाम की अप्सरा शंकर भगवान् की पूजा कर के कैलास पर्वत से अपने घर लौट रही थी। रास्ते में उसको केशी नामक दैत्य ने घेर लिया। संयोग से उसी रास्ते राजा पुरुरवा भी जा रहा था। उसने उर्वशी की मदद की। इस पर दोनों में प्रेम हो गया। उसके बाद उर्वशी पत्र भेजकर राजा के लिए अपने प्यार की बातें लिखती रही।

इसी बीच भरत मुनि की देख-रेख में स्वर्ग में 'लक्ष्मी परिणय' नाम से एक नाटक होता है। इस नाटक में उर्वशी को लक्ष्मी का पात्र दिया जाता है। नाटक खेलते

समय उर्वशी 'पुरुषोत्तम' की जगह 'पुरुरवा' नाम ले लेती है। पुरुषोत्तम विष्णु भगवान् का नाम है। लक्ष्मी उन्हीं की पत्नी हैं। इस गलती पर भरत मुनि उर्वशी को शाप देते हैं कि वह मर्त्यलोक में चली जाय। उर्वशी स्वर्ग से मर्त्यलोक में आती है। वहाँ पुरुरवा से उसका मिलन होता है। बाद में दोनों का विवाह हो जाता है।

राजा से उर्वशी को एक पुत्र होता है। उसका नाम 'आयुष' था। राजा से छिपाये रखने के लिए उर्वशी ने उसे च्यवन ऋषि के आश्रम में रख दिया था। लेकिन बाद में राजा को इसका पता लग गया। उर्वशी को उससे बड़ा दुःख हुआ।

इस दुःख का एक कारण था। उर्वशी देवराज इन्द्र के दरबार की अप्सरा थी। भरतमुनि के शाप पर इन्द्र ने इसे एक वर्ष के लिए मर्त्यलोक भेजा था। उसके साथ यह शर्त थी कि राजा पुरुरवा से जब उसे पुत्र पैदा हो जाय तो उसके एक वर्ष बाद स्वर्ग में वापस चली आवे। उर्वशी पुरुरवा को नहीं छोड़ना चाहती थी। इसीलिए वह किसी को भी अपने पुत्र पैदा होने की बात नहीं बताना चाहती थी।

जब सारी बातों का पता लग गया तो उर्वशी दुःखी हुई। ठीक इसी समय इन्द्र के दरबार से नारद मुनि आते हैं। उस समय देवताओं और दानवों की घोर लड़ाई चल रही थी। नारदमुनि के द्वारा इन्द्र ने पुरुरवा को मदद के लिए बुलाया था। इसके पुरस्कार में इन्द्र ने पुरुरवा को सदा के लिए उर्वशी को दे दिया था।

इस समाचार को सुनकर पुरुरवा-उर्वशी दोनों प्रसन्न हुए। यहीं पर नाटक की कहानी पूरी हो जाती है।

अभिज्ञान शाकुन्तलम्

'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' कालिदास का तीसरा नाटक है। इसमें सात अंक हैं। हस्तिनापुर के राजा दुष्यन्त और अप्सरा मेनका की पुत्री शकुन्तला की कथा को अधिकतर लोग जानते हैं।

दुष्यन्त-शकुन्तला की यह कहानी 'महाभारत' में भी है। लेकिन कालिदास ने उसको जिस तरह सँवार-सुधार कर रखा है उससे वह एकदम नयी मालूम होती है। इसके अलावा बहुत-सी बातें कालिदास ने अपनी ओर से भी जोड़ दी हैं, जो 'महाभारत' की कहानी में नहीं हैं। नाटक की कहानी इस प्रकार है—

एक बार राजा दुष्यन्त शिकार खेलते हुए कण्व मुनि के आश्रम में पहुँचते हैं। वहाँ दो सखियों सहित शकुन्तला को देखते हैं। सखियाँ राजा का परिचय पूछती हैं। राजा अपने को दुष्यन्त का सिपाही बताता है। शकुन्तला के बारे में पूछने पर सखियाँ बताती हैं कि वह ऋषि विश्वामित्र तथा अप्सरा मेनका की पुत्री है। दोनों एक-दूसरे को और भी नजदीक से जानने की कोशिश करते हैं।

इसी बीच दुष्यन्त के सामने एकसाथ दो समस्याएँ आती हैं। एक ओर आश्रम के लोगों का अनुरोध है कि वह कुछ दिन और वहाँ रुक जायँ। दूसरी ओर इन्द्रप्रस्थ से रानी वसुमती का बुलावा जाता है। दुष्यन्त अपने मित्र माधव्य को इन्द्रप्रस्थ भेज देता है और खुद आश्रम में ही रुक जाता है। माधव्य को भेजते समय वह कह देता है कि वहाँ वह किसी से भी कुछ न कहे।

इधर दुष्यन्त और शकुन्तला में मेल-मिलाप बढ़ता जाता है। एक बार अपने मन की बातों को शकुन्तला पत्र में लिखकर पेश करती है। फिर दोनों में खुल कर बातें होती हैं। वे दोनों चुपके से गान्धर्व विवाह कर लेते हैं। गान्धर्व विवाह, याने मनचाहा प्रेम-विवाह।

उसी बीच किसी आवश्यक काम से दुष्यन्त को अपनी राजधानी हस्तिनापुर वापस आना पड़ा। जाते समय यादगार में उसने शकुन्तला को अपनी अँगूठी दे दी। उसको दुष्यन्त ने यह भी विश्वास दिलाया कि 'मेरे नाम में जितने अक्षर हैं, उतने दिनों में ही मैं तुम्हें अपने पास बुला लूँगा।'

दुष्यन्त के चले जाने पर एक अनहोनी घटना घटी। एक दिन दुर्वासा मुनि आश्रम में पधारे। कण्व बाबा उस समय वहाँ नहीं थे। शकुन्तला दुष्यन्त के वियोग में इतनी दुःखी, उदास और बेसुध थी कि दुर्वासा मुनि का आदर-सम्मान तक न कर सकी। अपना इस तरह अपमान होता देख दुर्वासा मुनि क्रोध में उबल पड़े। उन्होंने आव देखा न ताव। शकुन्तला को वे शाप दे बैठे, 'जिसकी चिन्ता में बेसुध होकर तूने मुझ अतिथि का अपमान किया है, हे लड़की, जा वह तुझे हमेशा के लिए भूल जायगा।'

इतने में दोनों सखियाँ वहाँ आ पहुँचीं। उन्हें जब घटना का पता लगा तो वे दौड़ती हुई मुनिराज के पीछे भागीं। उन्होंने मुनिराज के पैर थाम लिए। उन्होंने शकुन्तला की दशा बताई और क्षमा कर देने की प्रार्थना की। पूरी क्षमा तो वे न कर सके। लेकिन इतना कह गए, 'अभिज्ञान, याने निशानी को देखकर राजा शकुन्तला को पहचान लेगा।'

कुछ दिन बाद मुनि कण्व भी तीर्थयात्रा से आश्रम में लौट आए। उन्हें मालूम हुआ कि शकुन्तला ने राजा दुष्यन्त के साथ गान्धर्व विवाह कर लिया है। वे शकुन्तला को दुष्यन्त के पास भेजने की तैयारी करने लगे।

शकुन्तला आश्रम से बिदा हुई। उसके विछोह में सारा तपोवन रो पड़ा। पेड़ों ने पीले पत्ते गिराकर आँसू बहाए। मृग खाना छोड़कर उसका पीछा करने लगे। कण्व जैसे तपस्वी का भी मन भर आया। शकुन्तला भी अपने साथी-सहचरों के विछोह का भारी उफान लिये आश्रम से विदा हुई। गौतमी और दो शिष्य उसको छोड़ने के लिए साथ गए।

रास्ते में शकुन्तला को प्यास लगती है। वह नदी में पानी पीने के लिए हाथ बढ़ाती है कि उसके हाथ की अँगूठी पानी में गिर जाती है। जब वे दुष्यन्त के दरबार में पहुँचे तो दुष्यन्त ने शकुन्तला को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। दुष्यन्त को पूरा किस्सा सुनाने के बाद शकुन्तला अँगूठी निकालने के लिए अपनी अँगुलियों को टटोलती है। अँगूठी न मिलने के कारण वह बेहोश हो जाती है। शकुन्तला को उसी बेहोशी में छोड़कर तीनों अपने आश्रम लौट आते हैं। बाद में पता चलता है, कि आकाश से कोई दैवी शक्ति आई और शकुन्तला को उठा ले गयी।

कुछ दिन बाद एक मछुआ राजा के नाम की अँगूठी को बेचते हुए पकड़ा जाता है। उसको राजा के पास लाया जाता है। अँगूठी को हाथ में लेते ही राजा के समक्ष आगे-पीछे की सारी घटनाएँ चित्र की तरह घूम जाती हैं। शकुन्तला का उसने जो अपमान किया था उसको याद कर वह दुःखी होता है।

इसी बीच सन्देशा पाकर दुष्यन्त इन्द्रलोक चले जाते हैं। वहाँ वे राक्षसों को मारकर वापस आते हैं। वापस आते समय वे गन्धमादन पर्वत पर मारीचि ऋषि का दर्शन करने के लिए जाते हैं। वहाँ उनकी शकुन्तला और अपने पुत्र भरत से भेंट होती है। मारीचि मुनि का आशीष लेकर वे सब अपनी राजधानी को लौट आते हैं।

'अभिज्ञानशाकुन्तल' की यही कहानी है।

कालिदास की कविता

कालिदास के इन तीनों नाटकों की कथाएँ पढ़ लेने के बाद कई बातें हमारे सामने आती हैं। उदाहरण के लिए, राजा दुष्यन्त को ले लीजिए।

दुष्यन्त क्षत्रिय है, वीर है, चक्रवर्ती है, लेकिन खुले दरबार में शकुन्तला को ठुकरा देने के बाद उसके लिए हमारे मन में कोई आदर नहीं रहता। अपने-आप स्वीकार हुई बात से वह खुद ही मुकर जाता है। लेकिन अँगूठी के मिल जाने से उसको सारी बातें याद हो जाती हैं। वह बहुत पछताता है। तब हमें यह भी मालूम होता है कि शकुन्तला को भुला बैठने में उसका दोष नहीं। वह तो शाप के कारण हुआ।

वह एक जिम्मेदार व्यक्ति है। अपने भोग-विलास के लिए वह अपनी प्रजा की उपेक्षा नहीं कर पाता। अगर वह बिना समझे-बूझे शकुन्तला को अपनाता है तो अपनी प्रजा के प्रति उसका यह न्याय नहीं कहा जायगा।

शकुन्तला एक वनवासिनी कन्या के रूप में हमारे सामने आती है। वह बड़ी भोली-भाली है। संसार की बातों से अनजान वह ऋषि विश्वामित्र और अप्सरा मेनका की लड़की है। उसका लालन-पालन कण्व बाबा के यहाँ हुआ। वह सुन्दरी है। अपनी अल्हड़ जवानी के कारण बाबा कण्व की राय लिये बिना वह अपने आप को एक अनजान युवक को सौंप देती है।

नारी के सभी अच्छे गुण उसमें हैं। वह अपनी ही तरह दुष्यन्त से भी संयम और मर्यादा को चाहती है। उसके मुकर जाने पर खुले दरबार में वह जो खरी-खोटी सुनाती है उससे उसके नारी स्वभाव का सही रूप सामने आता है।

कण्व बाबा शान्ति, सन्तोष और सरलता की मूर्ति हैं। वे तपस्वी हैं। लेकिन शकुन्तला के मोह ने उनको एक गृहस्थ बना दिया। वे बड़े कोमल हृदय के हैं। शकुन्तला की विदाई का समय आया। उसकी विदाई की बात सुनकर सारा तपोवन दुःखी हो गया। हिरणों ने घास खाना छोड़ दिया। भौरों ने नाचना बन्द कर दिया। पेड़ों की लताएँ अपने पीले पत्ते गिराकर आँसू बहाने लगीं। प्रस्तुत है वह मार्मिक दृश्य।

बेचारे कण्व बाबा भी अपने मन की व्यथा को न रोक सके—

यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया
कण्ठः स्तम्भितबाष्पवृत्तिकलुषश्चिन्ताजडं दर्शनम्।
वैक्लव्यं मम तावदीदृशमिदं स्नेहादरण्यौकसः
पीड्यन्ते गृहिणः कथं नु तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः॥

(उनकी आँखों से आँसू बहने लगे। वे सोचने लगे आज शकुन्तला चली जायगी। मेरा मन बैठा जा रहा है। आँसुओं के बहने से गला इतना रुँध गया है कि आवाज तक नहीं निकल पाती। इसी चिन्ता में मेरी आँखें धुँधली पड़ गयी हैं। जब मुझ वनवासी की यह हालत है, तो उन बेचारे गृहस्थों की क्या दशा होती होगी, जो पहली बार अपनी कन्या को विदा करते हैं।)

कण्व बाबा ही उसके माता-पिता थे। वे वनवासी थे। संसार के मायाजालों से दूर। संसार के नाते-रिश्तों से अनजान। लेकिन ससुराल जाती हुई अपनी प्यारी बेटी को उनके अलावा कौन गृहस्थ की बातों को समझाये? वे कहते हैं—

शुश्रूषस्व गुरून् कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने
भर्तुर्विप्रकृताऽपि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः॥

(बेटी, तुम राजरानी बनने जा रही हो। घर के बड़े-बूढ़ों की सेवा करना। तुम्हारी सौतें हैं। उनके साथ सखियों जैसा बर्ताव करना। पति अगर निरादर भी करे तो उनसे झगड़ा न करना। नौकर-चाकरों के साथ प्यार का व्यवहार करना। अपने सौभाग्य पर घमण्ड न करना।)

शकुन्तला की विदाई पर कही गयी ये बातें आज भी हरएक माता-पिता के मन के उद्‌गार हैं।

शकुन्तला विदा हो गयी। प्रत्येक माता-पिता की तरह कण्व बाबा का भार भी हल्का हो गया। वे कहते हैं, 'कन्या पराया धन है। उसको उसके पति के पास सौंप देने में ही कल्याण है। आज शकुन्तला को उसके पति के घर भेजकर मेरे मन की बहुत बड़ी अभिलाषा पूरी हो गयी। मेरी आत्मा अब चैन का अनुभव कर रही है।'

इस प्रकार 'अभिज्ञानशाकुन्तल' की यह कहानी हमारे घरों की कहानी बन गयी है। उसमें हमारी खुशियों और व्यवथाओं का सम्मिश्रण है। हमारे जीवन की हर छोटी-बड़ी घटनाएँ हैं। यह कालिदास का कौशल है। इसी कौशल ने उनको विश्वकवि के ऊँचे पद पर पहुँचाया।

इस तरह कालिदास जनता के ही नहीं, संस्कृत के कवियों के भी आदर्श बने। बाण का कहना है कि उनकी कविता इतनी लोकप्रिय हुई कि बाद के कवियों ने उसको चुराना शुरू कर दिया। लेकिन उससे क्या होता था। जो असलियत है उसे छिपाया नहीं जा सकता।

सच बात तो यह है कि कालिदास ने संस्कृत भाषा को वाणी दी। नये भाव, नये विचार और नये स्वर दिये। वे संस्कृत के सबसे बड़े कवि और सबसे बड़े नाटककार हुए। उनके बारे में जर्मन महाकवि गेटे ने ठीक ही कहा, 'कालिदास ने सहज ही में स्वर्ग और धरती का मिलन करा दिया। उन्होंने फूल को फल में बदल दिया है और स्वर्ग को धरती में। यह उन्होंने इस चतुराई से किया कि बीच का फर्क ही मालूम नहीं होने पाता।'

अश्वघोष और उनका युग

जीवनी और समय

महाकवि कालिदास के बाद अश्वघोष दूसरे नाटककार और महाकवि हैं। उन्हें कालिदास के युग का महान् कवि कहा जा सकता है। संस्कृत के दूसरे कवियों की तरह अश्वघोष के बारे में भी बहुत कम बातें जानने को मिलती हैं। वे अयोध्या (साकेत) के रहने वाले थे। उनके पिता का नाम मालूम नहीं होता। अपनी माता का नाम उन्होंने सुवर्णाक्षी बताया है। वे ब्राह्मण थे और बाद में बौद्ध हो गये। पार्श्व नामक एक बौद्ध विद्वान् उनके गुरु थे। उनके गुरु पार्श्व पेशावर के रहने वाले थे।

पटना (पाटलिपुत्र) के बौद्ध विहार में दस वर्षों तक रह कर उन्होंने पढ़ा था। सारे देश में अपने समय के सबसे बड़े विद्वानों में उनका नाम हो गया था। जब अश्वघोष का नाम सब की जिह्वा पर था, तभी शक सम्राट् कनिष्क विजय करता हुआ पटना आ पहुँचा। लड़ाई होने से पहले ही वहाँ के राजा ने बौद्धधर्म को अपना लिया। कनिष्क के साथ उसका समझौता हो गया।

सम्राट् कनिष्क बौद्ध था। सम्राट् अशोक की ही तरह वह सारे देश में बौद्धधर्म को फैला देना चाहता था। उसकी लड़ाई मार-काट की नहीं थी, बल्कि बौद्धधर्म के प्रचार की थी। उसकी राजधानी पेशावर थी।

पटना में उसने अश्वघोष का नाम सुना। उसने अश्वघोष को पेशावर चलने के लिए कहा। वहाँ के बौद्धसंघ से भी कनिष्क ने अनुरोध किया। अश्वघोष पेशावर जाने के लिए तैयार हो गए। जब वे पेशावर पहुँचे तो वहाँ उन्होंने जो कुछ देखा उससे चकित हो गये। कनिष्क की यह राजधानी शक, यवन, तुर्क, फारसी और भारतीय संस्कृतियों का गढ़ बनी हुई थी। सभी धर्मों और संस्कृतियों के इस मेल को देखकर अश्वघोष बड़े प्रसन्न हुए।

कनिष्क ने अश्वघोष को अपना राजकवि बनाया। दरबार में उनको सबसे ऊँचा पद दिया। उन्हीं को कनिष्क ने अपना राजगुरु स्वीकार किया। उनसे बौद्धधर्म की जानकारी प्राप्त की।

उनके बारे में कहा जाता है कि जब वे धर्मकर्म की बातों से दूर और जवान थे तभी से उन्होंने कविता लिखनी शुरू कर दी थी। वे नाटक मण्डलियों में भी भाग लेते थे। उनकी कविता उस समय के युवकों के मुँह पर नाचती थी। अपनी तरुणाई के दिनों में ही उनका नाम चारों ओर फैल गया था।

कहा जाता है कि बौद्ध अश्वघोष ने एक यवन कन्या से विवाह किया था। उसका नाम था प्रभा। इस विजातीय विवाह को लेकर उन्होंने 'वज्रच्छेदिका' नाम की एक छोटी-सी पुस्तक लिखी। यह पुस्तक आज भी है। उसमें उन्होंने दिखाया है कि हिन्दू धर्म में इस प्रकार के विवाहों की अनुमति है। उन्होंने अपने युग के समाज के लिए नये सदाचार को रखा। उनके जीवन में धर्म की इस उदारता का बड़ा महत्त्व है। एक कवि के रूप में ही नहीं, एक सच्चे समाज सुधारक के रूप में भी उनका नाम है। जिस रूप में आज उनका नाम है उसको देखकर उनके लिए सभी देशवासियों का

सम्मान है। वे दर्शन के बहुत बड़े पण्डित थे। इसी तरह बड़े नाटककार और महाकवि थे। इतना ही नहीं, वे अच्छे संगीतज्ञ और अभिनेता भी थे। वे नाटक मण्डलियों में रहे। उन्होंने नाटक भी खेले हों तो कोई अचरज नहीं। जवानी के दिनों में उनका जीवन इसी तरह बीता।

अश्वघोष प्रथम शती ईसवी में हुए, आज से ठीक दो हजार वर्ष पहले। यही समय सम्राट् कनिष्क का भी है।

अश्वघोष की पुस्तकें

अश्वघोष ने कई पुस्तकें लिखीं। ये सभी पुस्तकें संस्कृत में थीं। लेकिन वे सब नष्ट हो गयीं। सौभाग्य से चीनी और तिब्बती भाषाओं में वे जीवित रह गयीं। इन्हीं भाषाओं से पुनः उन्हें संस्कृत में उल्था किया गया है। उनकी पुस्तकों के अलावा उनके बारे में भी चीनी और तिब्बती पुस्तकों से ही जानकारी प्राप्त होती है।

उन्होंने तीन तरह की पुस्तकें लिखीं। कुछ बौद्धधर्म तथा दर्शन पर हैं, दो महाकाव्य हैं और एक नाटक। उन्होंने बौद्धधर्म तथा दर्शन पर चार पुस्तकें लिखीं। उनके नाम है— १. महायानश्रद्धोत्पादसंग्रह, २. वज्रसूची, ३. गण्डीस्तोत्रगाथा और ४. सूत्रालंकार। कई लोगों का कहना है कि उन्होंने 'राष्ट्रपाल' और 'उर्वशीवियोग' नाम के दो नाटक भी लिखे थे। इन छहों पुस्तकों के बारे में कुछ लोगों का यह सन्देह है कि उनमें से अधिकतर उनकी नहीं हैं।

जिन तीन पुस्तकों को सभी लोग अश्वघोष की मानते हैं उनमें एक नाटक है और दो महाकाव्य। नाटक का नाम है 'शारिपुत्र प्रकरण'। महाकाव्यों के नाम हैं— 'बुद्ध चरित' तथा 'सौन्दरानन्द'। उनकी इन तीनों पुस्तकों की वजह से ही उनका अधिक नाम है। इसलिए इनके बारे में कुछ जान लेना जरूरी है।

शारिपुत्र प्रकरण

'शारिपुत्र प्रकरण' अधूरा ही मिला है। इस नाटक के बारे में यह जानकर आश्चर्य होता है कि वह भारत में नहीं बल्कि मध्य एशिया के तुर्फान नगर में मिला है। वहाँ उसकी एक पोथी मिली, जो कि हाथ से लिखी थी।

इस नाटक का जितना हिस्सा मिल पाया है उसको पढ़ने से यह मालूम किया गया है कि उसमें नौ अंक थे। नाटक की कथा का सार इस प्रकार है—

शारिपुत्र अपने विदूषक मित्र से बुद्ध के बारे में बातचीत करता है। वह बुद्ध से शिक्षा लेने की इच्छा प्रकट करता है। विदूषक उसको कहता है कि एक ब्राह्मण होकर उसे बुद्ध जैसे क्षत्रिय से शिक्षा लेना ठीक नहीं है। लेकिन शारिपुत्र उसकी इस बात को नहीं मानता। वह विदूषक से कहता है, 'जिस तरह पानी से आग बुझ जाती है उसी प्रकार नीच जाति के वैद्य द्वारा दी गयी दवाई बीमारी को दूर कर देती है।' उसका यह उत्तर बड़ा सीधा-सादा है। सभी की समझ में जाने लायक है। लेकिन जिस तरीके से वह कहा गया है वह बड़ा ही सुन्दर है।

विदूषक की बात का सीधा जवाब न देकर शारिपुत्र ने उसे अच्छी तरह यह समझा दिया है कि मनुष्य में जो बुराइयाँ हैं और संसार के जिन ज्वर तापों से वह पीड़ित है उनको बुद्ध की वाणी ही दूर कर सकती है। इसीलिए बुद्ध की शिक्षाएँ मनुष्य-मनुष्य के लिए उपयोगी हैं।

अश्वघोष का यह सुधारवादी मत है। समाज में जो ऊँच-नीच की भावना है उस पर तीखी चोट है।

नाटक की इस कथा में आगे बताया गया है कि शारिपुत्र अपने मित्र मोदगल्यायन के साथ बुद्ध की शरण में जाता है। बुद्ध उन दोनों को अपना लेते हैं।

नाटक के अधूरे होने के कारण उसकी बहुत सारी बातें ज्ञात नहीं होती हैं। लेकिन ऐसा मालूम होता है कि यह नाटक तत्कालीन समाज के जीवन को लेकर लिखा गया। इसमें लुच्चे, लफंगे, चोर, जुआरी, शराबी और वेश्या आदि की बातें कही गयी हैं। उस युग के समाज में जो बुराइयाँ फैल गयीं थी और लोग जिनकी ओर ध्यान नहीं दे रहे थे, इस नाटक में उन्हीं की ओर ध्यान देने की बात कही गयी है।

इस नाटक का एक बहुत बड़ा उद्देश्य यह जानने को मिलता है कि तब बौद्ध-धर्म का बड़ा महत्त्व था। समाज के सब छोटे-बड़े उसकी महानताओं को जानते और अपनाते थे।

सौन्दरानन्द

सौन्दरानन्द अश्वघोष का पहला महाकाव्य है। इसमें अठारह सर्ग हैं। इसकी हस्तलिखित पोथी नेपाल में मिली थी। उसकी कुछ प्रतियाँ तिब्बती और चीनी भाषाओं में भी हैं।

इस महाकाव्य में बुद्ध के उपदेश और नन्द की कहानी कही गयी है।

पहले तीन सर्गों में राजकुमार सिद्धार्थ के जन्म से लेकर बुद्ध होने तक की कथा है। बुद्ध का बचपन का नाम सिद्धार्थ था। उसके बाद नन्द और सुन्दरी की विवाह-कथा कही गयी है। नन्द, बुद्ध के बड़े भाई थे। एक बार बुद्ध उनके दरवाजे पर भिक्षा माँगने के लिए आये। लेकिन वहाँ से उनको खाली हाथ लौटना पड़ा। बाद में नन्द को इस बात का बड़ा दुःख हुआ। वे भागे-भागे बुद्ध की शरण में गये। बुद्ध ने उन्हें अपना लिया।

जब नन्द घरबार छोड़कर चले गये तो उनकी स्त्री सुन्दरी बड़ी दुःखी हुई। नन्द के कानों तक उसके दुःख की बात पहुँचती है। उसका मन घर जाने के लिए मचल पड़ता है। लेकिन उसका साथी दूसरा श्रमण उसे समझाता है। फिर भी उसके मन का मोह दूर नहीं होता।

बुद्ध को नन्द की सारी बातें मालूम हैं। उन्होंने सोचा नन्द के मन से संसार की मोहमाया ऐसे दूर न हो सकेगी। उसके लिए कुछ दूसरा ही उपाय खोजना पड़ेगा। योगविद्या के जरिए बुद्ध नन्द को अपने साथ आकाश में उड़ाते हुए स्वर्ग में ले गए। वहाँ नन्द को अप्सराएँ देखने को मिलती हैं। वे बड़ी सुन्दर हैं। उन्हें देखकर नन्द

अपनी स्त्री को भूल जाता है। बुद्ध उसे बताते हैं कि इन परियों को पाने के लिए तप करना होगा। नन्द तप करने बैठ जाता है।

इसी बीच एक भिक्षु नन्द के पास आता है। यह भिक्षु उसे बताता है कि सब जगह नन्द के तप की हँसी उड़ाई जा रही है। परियों को पाने के लिए तप करना बड़ी छोटी बात है। नन्द का मन उचट जाता है। धीरे-धीरे नन्द के आगे सारी बातों का भेद खुलता है। वह फिर बुद्ध की शरण में जाता है।

भगवान् बुद्ध नन्द को ठीक रास्ते पर आया समझ कर उसे उपदेश देते हैं। संसार की हरएक बातों का भेद बताते हैं। नन्द बुद्ध की शिक्षाओं में डूब जाता है।

यही 'सौन्दरानन्द' की कथा है। अपनी इस पुस्तक को अश्वघोष ने अपने समय की जनता के लिए लिखा था। उन्होंने उसके शुरू में स्वंय ही कहा है 'मैंने यह पुस्तक अपने लिए नहीं, लोगों के लिए लिखी है। लोग बुद्धधर्म को जानें, उसको अपनाएँ। इस पुस्तक को लिखने का मेरा यही ध्येय है।'

बुद्धचरित

'बुद्धचरित' उनका दूसरा महाकाव्य है। इसमें अट्ठाइस सर्ग थे। लेकिन आज उनमें से केवल सत्रह सर्ग ही मिलते हैं। अश्वघोष की यह पुस्तक तिब्बती और चीनी अनुवादों के रूप में बची रह सकी।

इस पुस्तक के नाम से ही जाहिर होता है कि उसमें बुद्ध की कथा कही गयी है। उनकी यह कथा उनके जन्म से शुरू होती है। धीरे धीरे वे बड़े होते गए। यशोधरा से उनका विवाह होता है। फिर उनका पुत्र पैदा होता है। उसका नाम रखा जाता है राहुल।

इसी बीच एकाएक उन्हें घर, परिवार, स्त्री, पुत्र सबसे विराग पैदा हो जाता है। वे घर छोड़कर शान्ति की खोज में निकल पड़ते हैं। उनके 'गृहत्याग' पर सारे राज्य में शोक छा जाता है। रानी यशोधरा रोती-कलपती हैं। उनको खोजने के लिए बड़ी कोशिशें होती हैं। लेकिन वे नहीं मिलते।

वे एक जगह से दूसरी जगह जाते हैं। बड़े से लेकर छोटे तक से मिलते हैं। लेकिन उनके मन की गुत्थी को कोई नहीं खोल पाता। अन्त में वे समाधि लगाकर एक पेड़ के नीचे बैठ जाते हैं। वहाँ कई दिनों और कई महीनों तक वे उसी तरह बैठे रहते हैं। एक दिन उनके मन की मुराद पूरी हो जाती है। वे जो चाहते थे वह उन्हें मिल जाता है। वे चाहते थे बोधि, याने ज्ञान। यह संसार क्या है। इस संसार में रहने वाले ये अनगिनत जीव क्या हैं। यह शरीर क्या है। जब आदमी मरता है तो कहाँ जाता है। उन्होंने संसार के सबसे बड़े कारण दुःख को खोज निकाला। मनुष्यों के इस दुःख को किस तरह दूर किया जा सकता है, इसका उपाय भी उनको मिल गया।

इसी को सम्बोधि या ज्ञान कहा गया है। जब बुद्ध को ज्ञान मिल गया तो उसे वे लोगों में फैलाने के लिए निकल पड़े। उन्होंने लोगों को उस रास्ते पर चलने के लिए कहा। बुद्ध की इन सुन्दर शिक्षाओं को जो भी सुनता वह उन्हीं का हो जाता। देश के चारों ओर बुद्ध की शिक्षाएँ फैल गयीं। उनके बाद उनकी इन शिक्षाओं को ही 'बौद्ध-

धर्म' याने बुद्ध का चलाया गया धर्म, कहा गया। उनके बाद महाराज अशोक ने उसको बढ़ाने तथा फैलाने के लिए क्या किया, इसके साथ ही कथा पूरी हो जाती है।

अश्वघोष की कविता

कविता की थाती अश्वघोष को कालिदास से मिली थी। कालिदास की कविता में सरलता और मिठास है। अश्वघोष की कविता में भी वह देखने को मिलती है। कालिदास में मनुष्य के मनोभावों की जो परख थी, वही अश्वघोष की कविता में भी है। कालिदास ने अपनी कविता में समाज के छोटे-बड़े, ऊँच-नीच, सभी को समान मानवीय कसौटी पर रखा। अश्वघोष की कविता में भी समानता के इस आदर्श को अपनाया गया।

समाज में समानता के आदर्श को फैलाने पर उन्होंने बहुत बल दिया है। उनकी दृष्टि में मनुष्य-मनुष्य एक है। वे यह मानते थे कि किसी भी अच्छे काम को करने के लिए बुजुर्ग होना जरूरी नहीं है। अच्छा काम करना किसी एक की बपौती नहीं है। कोई भी मनुष्य, चाहे वह छोटा हो या बड़ा, अच्छा काम कर सकता है और बड़ा हो सकता है।

मनुष्य की अपनी भलाई और समाज की भलाई के लिए बौद्धधर्म एक महान् जरिया है। मनुष्य-मनुष्य में महान् मानवीय गुणों को बढ़ाने और फैलाने में बौद्धधर्म एकमात्र उपाय है।

अश्वघोष, की कविता में अपने देश की पुरानी सभ्यता और संस्कृति की अच्छी झलक देखने को मिलती है। उस युग का धर्म, रहन-सहन और आचार-विचार का पता लगाने के लिए अश्वघोष की पुस्तकें बड़ी उपयोगी हैं।

शूद्रक और उनका युग

जीवनी और समय

संस्कृत की इस कहानी में हमने बाल्मीकि, व्यास, भास, कालिदास और अश्वघोष के बारे में पढ़ा। वाल्मीकि और व्यास की वाणी से संस्कृत की जो धारा बही उसको जन-मानस तक ले जाने का काम किया भास, कालिदास और अश्वघोष ने। इस थाती को आगे बढ़ाने में जिन कवियों का योग रहा, शूद्रक उनमें पहले हैं।

सारे संस्कृत साहित्य में शूद्रक का अपना अलग स्थान है। वे अपने युग के अकेले नाटककार थे। अपने समाज की सच्चाइयों को सीधे और साहस से उन्होंने आगे रखा। वे संस्कृत के कवि तथा नाटककार ही नहीं, अपने युग के नेता और सुधारक भी थे। विचारों में वे बहुत बढ़े-चढ़े थे। कालिदास की तरह मनुष्यमन की उन्हें बड़ी परख थी। राजा से लेकर रंक तक जिसकी जो दशा थी, शूद्रक ने उसका चित्र उतार कर रख दिया।

संस्कृत का यह इतना महान् लेखक कब कहाँ और कैसे हुआ, इसके बारे में कई तरह की बातें कही जाती हैं। अपने नाटक मृच्छकटिक के प्रारम्भ में शूद्रक ने कुछ बातें कही हैं। उनसे मालूम होता है कि वे भारी-भरकम शरीर वाले थे। सुन्दर थे।

जाति से क्षत्रिय थे। वेद, गणित, कला-कौशल, व्यापार और हस्तिशास्त्र, इतने विषयों के जानकार थे। उन्होंने अश्वमेध यज्ञ किया था। वे राजा थे। अश्वमेध यज्ञ के बाद अपना सारा राज-पाट उन्होंने अपने पुत्र को सौंप दिया था। इस तरह सौ वर्ष और दस दिन की आयु बिता कर वे स्वर्गवासी हुए।

ये बातें उन्होंने अपने बारे में लिखी हैं। इन बातों में उन्होंने अपने मरने के बारे में भी कहा है। किसी को भी शक हो सकता है कि अपने बारे में कोई आदमी इस प्रकार कैसे बता सकता है। कुछ लोगों का कहना है कि शूद्रक ज्योतिष के बड़े जानकार थे। इसलिए अपनी मृत्यु के बारे में उन्होंने पहले ही हिसाब लगा लिया था। लेकिन कुछ लोगों का कहना है कि ये बातें बाद में जोड़ी गयीं। वे किसने जोड़ीं और क्यों जोड़ीं, इसका अभी तक कोई पता नहीं चल सका है।

'मृच्छकटिक' के बारे में अब तक कुछ तय नहीं हो पाया है। इस नाटक के बारे में यह भी कहा जाता है कि उसमें उसके असली लेखक ने अपना नाम दिया ही नहीं। यह शूद्रक नाम, जो उसमें दिया गया है, जाली है।

इस नाटक को पढ़कर कुछ बातें सामने आती हैं। उनमें पहली बात तो यह कि जिसने उसको लिखा वह संस्कृत और अपने समय की लोक भाषाओं का अच्छा जानकार था। वह शैवधर्म को मानने वाला था। उनका जन्म शायद दक्षिण भारत में हुआ था।

आचार्य चन्द्रबली पाण्डे ने शूद्रक पर एक पुस्तक लिखी है। इस पुस्तक में उन्होंने कई तरह की ऐतिहासिक सामग्री का उपयोग किया है। शूद्रक के बारे में जहाँ-जहाँ जो कुछ कहा गया है, उसको ध्यान से पढ़ा है। खुद भी खोज की है।

उन्होंने लिखा है कि दक्षिण के सातवाहन राजाओं में पुलमावि नाम से एक राजा हुआ। उसी का दूसरा नाम शूद्रक था। लेकिन इस मत को भी कुछ लोग नहीं मानते।

आज के अधिकतर लोगों की राय है कि 'मृच्छकटिक' का लेखक शूद्रक ही था। उसने जिस समाज और युग का चित्रण किया है, उसको देखते हुए यह कहा जा सकता है कि वह छठीं शतीं ईसवी में हुआ। आज से लगभग चौदह सौ वर्ष पहले।

मृच्छकटिक

शूद्रक के बारे में भले ही कोई जानकारी प्राप्त न हुई हो, लेकिन इतना तय है कि वे अपने युग के विरले लोगों में हुए। उन्होंने जो पुस्तक लिखी उससे उनका नाम संस्कृत साहित्य में अमर है।

उनकी पुस्तक का नाम है 'मृच्छकटिक', याने 'मिट्टी की गाड़ी'। इसको 'प्रकरण' कहा जाता है। नाटक का ही यह एक नाम है। इसमें दस अंक हैं। इसकी कथा संक्षेप में इस प्रकार है—

उज्जयिनी (उज्जैन) नाम की एक नगरी में चारुदत्त नाम का एक ब्राह्मण रहता था। पहले वह बड़ा धनी था। लेकिन बाद में गरीब हो गया था। उसी नगरी में वसन्तसेना नाम की एक गणिका रहा करती थी। वह बड़ी सुन्दरी थी। अनेक कलाओं

में चतुर। किसी कारण वह चारुदत्त ब्राह्मण के गुणों पर मोहित हो गयी थी। उन्हीं दोनों के पवित्र प्रेम की कथा इस नाटक में कही गयी है।

इस कथा को नाटक में इस प्रकार फैलाकर लिखा गया है—

एक बार कुछ लफंगे अंधेरी रात में वसन्तसेना का पीछा कर रहे थे। शकार, विट और चेट उन लोगों के नाम थे। वसन्तसेना उनसे बचने के लिए पास की एक झोपड़ी में घुस गयी। संयोग से यह घर ब्राह्मण चारुदत्त का था। चोरों से बचने के लिए अपने सभी गहने वह चारुदत्त के घर में रख लेती है। चारुदत्त उसे उसके घर पहुँचा देता है।

एक दिन शर्विलक नाम का एक चोर सेंध लगाकर चारुदत्त के घर से गहने चुरा लेता है। चारुदत्त अपनी स्त्री के गहनों को वसन्तसेना के घर भेज देता है। साथ ही यह भी सन्देशा भेजता है कि वसन्तसेना के गहने वह जुए में हार गया। एक दिन चारुदत्त का पुत्र रोहसेन अपनी आया रदनिका के साथ मिट्टी की गाड़ी से खेलता हुआ वसन्तसेना के घर के सामने पहुँच जाता है। रदनिका से वसन्तसेना को मालूम होता है कि यह बालक चारुदत्त का है। वसन्तसेना उन गहनों से उसकी गाड़ी भर देती है। साथ ही वह उसके लिए सोने की गाड़ी खरीदने को कहती है। इसी घटना के कारण इस नाटक का नाम 'मृच्छकटिक' (मिट्टी की गाड़ी) रखा गया है।

कुछ दिन बीत जाने पर वसन्तसेना अपने एक नौकर को साथ लेकर चारुदत्त के घर जाती है। रातभर गहरी वर्षा होने के कारण वह उस रात चारुदत्त के ही घर रुक जाती है।

इसके बाद की कथा बड़ी उलझी हुई है। राजा पालक का साला शकार अपनी पुरानी दुश्मनी के कारण एक दिन वसन्तसेना का गला घोंट कर उसे मरा जानकर वहाँ से भाग आता है। अदालत में चारुदत्त के शिर इस आरोप को मढ़ दिया जाता है। लेकिन किसी तरह वसन्तसेना बच जाती है और चारुदत्त की जगह शकार को फाँसी की सजा सुनाई जाती है। चारुदत्त के ही कहने पर बाद में शकार को बरी कर दिया जाता है।

अन्त में वसन्तसेना और चारुदत्त का विवाह हो जाता है। यही इस नाटक की कथा है।

शूद्रक की कविता

'मृच्छकटिक' सारे संस्कृत-साहित्य में अपनी तरह का अकेला नाटक है। उसमें नाटककार ने अपने युग के समाज की साफ तस्वीर उतारी है। उसमें उस समाज की सभी भलाइयों और बुराइयों को खोलकर दिखाया गया है। समाज के जितने भी अंग हैं उनको उसमें अलग-अलग गिना गया है। राजा, ब्राह्मण, धूर्त, फकीर, वेश्या, लम्पट, चोर, जुआरी और पुलिस-सभी के रंगीन चित्र उसमें देखने को मिलते हैं।

ऐसा मालूम होता है कि उस युग में राज-काज और शासन की बागडोर बहुत ढीली पड़ गयी थी। राजा अपने पद से गिर गया था। वह रखैलें रखने लग गया था। पालक ऐसा ही राजा था, जिसने शकार की सुन्दरी बहन को रख लिया था।

उस समय के राज-काज का सही चित्र चारुदत्त में प्रस्तुत किया है। उसने

न्यायालय में न्यायाधीश के सामने कहा था—

चिन्तासक्तनिमग्नमन्त्रिसलिलं दूतोर्मिशङ्खाकुलं
पर्यन्तस्थितचारनक्रमकरं नागाश्वहिंसाश्रयम्।
नानावाशककङ्कपक्षिरुचितं कायस्थसर्पास्पदं
नीतिक्षुण्णतटं च राजकरणं हिस्रैः समुद्रायते॥ —मृ० ९-१४

(यह राजमण्डल हिंसक जानवरों से घिरे हुए समुद्र की तरह है। इसके मन्त्री लोग जल की लहरों के समान हैं। इधर-उधर जाने-वाले ये दूत लहरों से धकेले गये शंखों की तरह हैं। राज्य के चारों ओर फैले गुप्तचर विभाग के अधिकारी मगरों की भाँति हैं।)

शूद्रक के वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि समाज में चोरों, लफंगों, जुआरियों और धूर्तों का भी बोलबाला था। भले घर की बहू-बेटियों को घर से बाहर निकलने का साहस नहीं होता था।

उस समय व्यापार की दशा बहुत अच्छी थी। जहाजों के जरिए समुद्री रास्तों से विदेशों में व्यापार होता था। समाज का एक वर्ग बहुत बढ़ा-चढ़ा था। ब्राह्मण भी गणिका से विवाह कर सकता था। गणिकाएँ चरित्र की ऊँची होती थीं। वे अपना पेशा छोड़ कर अच्छे घरों की बहुएँ बन सकती थीं।

मृच्छकटिक, संस्कृत का एकमात्र यथार्थवादी नाटक है। यथार्थवादी याने शीशे में शक्ल जैसा। उसकी यथार्थ घटनाओं का इतिहास चारुदत्त और वसन्तसेना के चरित्रों में देखने को मिलता है।

चारुदत्त जाति से ब्राह्मण हैं। लेकिन काम करता है बनिए का। वह उदार है। उसके मन में दया है। सबकी वह इज्जत करता है। वह गृहस्थ है। आचार-विचार वाला पक्का ब्राह्मण। उसका विवाह हो गया है। एक पुत्र भी है। एक दिन वह उज्जैन का विख्यात व्यापारी था। लेकिन बाद में गरीब हो गया। अपनी इस गरीबी में जब उसे अपनी अमीरी के दिन याद आते तो बड़ा दुःख होता। दुःख अपने लिए नहीं, अपने दोस्तों के लिए। एक दिन उसने अपने एक मित्र से कहा भी, 'मुझे धन के लिए दुःख नहीं है। मुझे दुःख है तो इस बात का कि मेरी गरीबी के कारण मेरे मित्रों ने मेरे घर आना छोड़ दिया है।'

वह आगे कहता है, 'मुझे धन के चले जाने का कोई गम नहीं। धन का आना-जाना तो लगा ही रहता है। मुझे गम तो इस बात का है कि पहले जो मेरे गहरे मित्र थे, आज वे मुझे गरीब जानकर मुझसे बात तक नहीं करते।'

जब उसने सुना कि चोर ने उसके घर में सेंध लगायी तो उसे बड़ा दुःख हुआ। दुःख इसलिए कि उस दरिद्र के घर से चोरों को खाली लौटना पड़ा। लेकिन ज्योंही उसे पता लगता है कि वसन्तसेना की अमानत चली गयी, वह काँप उठा। उसने बदले में अपनी स्त्री के सभी गहने वसन्तसेना को दे दिए। वहाँ उसने झूठ-मूठ कहा कि असली गहनों को वह जुए में हार गया है।

इन गरीबी के दिनों में वह अपने दिन किसी तरह बिता ही रहा था। एकाएक

उसके जीवन में वसन्तसेना आयी। उसने दरिद्र चारुदत्त को अपना लिया। चारुदत्त ने उसके प्यार को अन्ततक निभाया। यहाँ तक कि उससे विवाह कर लिया। यह इस नाटक की जान है।

वसन्तसेना गणिका है। लेकिन उसमें अच्छे कुल की स्त्रियों के सब गुण हैं। उसके कर्म बहुत ऊँचे थे। वह विचारों की पवित्र थी। वह चाहती तो बड़े-बड़े धनवानों को फाँस सकती थी। लेकिन उसने एक दरिद्र ब्राह्मण को अपनाया। एक बार राजा के साले शकार को फटकारते हुए उसने कहा था, 'अरे नीच, मुझे अपने धन का लोभ देता है? मैं किसी भी शर्त पर चारुदत्त को नहीं छोड़ सकती हूँ। गरीब वह भले ही है लेकिन उसके पास कुल है, शील है।'

'मृच्छकटिक' एक चुनौती है। उन लोगों के लिए जो धर्म की आड़ में अपने स्वार्थों को साध रहे थे। इन स्वार्थी लोगों के कारण समाज में चोरी, जुआ, पाखण्ड, अत्याचार और अन्याय फैल गया था।

नाटककार ने उन लोगों पर करारी चोट की है जो मनुष्य-मनुष्य के बीच नकली दीवार खड़ी किए थे। एक ब्राह्मण का एक गणिका के साथ विवाह कराके नाटककार ने उस युग के धर्म के ठेकेदारों की पोल खोली। उनके भीतरी राजों को जनता के सामने खोलकर रखा।

यही इस नाटक का यथार्थ है और इसीलिए इसको संसार के लोगों ने अपनाया। आज उसकी लोकप्रियता और सफलता का इससे अधिक प्रमाण क्या हो सकता है। विदेशों में कई बार वह वहाँ की भाषाओं में, रंगमंच पर खेला गया। संसार की अनेक भाषाओं में उसका अनुवाद हो चुका है।

□□

५

संस्कृत साहित्य का उत्कर्ष युग

संस्कृत साहित्य को भास, कालिदास और उनके युग के लेखकों ने नयी चेतना दी। यह चेतना उन्हें लोक मानस से मिली थी। इसलिए उनकी कविता को लोक ने अपनाया। इस लोकप्रिय परम्परा को जिन लेखकों ने आगे बढ़ाया उनमें भर्तृहरि, भारवि, माघ, बाण, भवभूति और श्रीहर्ष का नाम पहले आता है। लगभग छठीं शताब्दी से लेकर बारहवीं शताब्दी के बीच के इस समय को 'संस्कृत का उत्कर्ष युग' कहा गया है।

इस युग में संस्कृत की कई विधाएँ प्रकाश में आईं। उनमें काव्य, महाकाव्य, नाटक और गद्यकाव्य का नाम मुख्य है। संस्कृत की चरम उन्नति के इन छः सौ वर्षों में धर्म, दर्शन, कोश, आयुर्वेद, कामशास्त्र, काव्यशास्त्र, और शिल्पशास्त्र पर भी कई पुस्तकें लिखी गयीं।

इस युग में संस्कृत राजदरबारों की राजकाज की भाषा बनी। भारत के राजवंशों ने उसको बढ़ाने में अपना बहुत बड़ा योगदान किया। उन्होंने अपने दरबारों में विद्वानों का बड़ा आदर-सम्मान किया। भर्तृहरि स्वयं राजपरिवार के थे। महाकवि भारवि दक्षिण भारत के चालुक्यवंशी राजा विष्णुवर्धन के राजकवि थे। महाकवि माघ के आश्रयदाता गुजरात के वलभी राजा थे। बाण कन्नौज के महाराज हर्षवर्द्धन की राजसभा के रत्न थे। उनके यहाँ मयूर, धावक और दिवाकर आदि कवि भी रहा करते थे। श्रीहर्ष कन्नौज के राजा विजयचन्द्र और जयचन्द्र के राजकवि थे। श्रीहर्ष जब राजसभा में आते तो राजा जयचन्द्र उन्हें अपने हाथों आसन और पान के दो बीड़े दिया करते थे। इसी प्रकार भवभूति भी कन्नौज के चन्द्रवंशी राजा यशोवर्मा के राजकवि थे।

संस्कृत के इस उत्कर्ष युग की कहानी भर्तृहरि से प्रारंभ होकर श्रीहर्ष से पूरी होती है।

भर्तृहरि और उनका युग

जीवनी और समय

कवि भर्तृहरि के बारे में बहुत कम बातें जानने को मिलती हैं। जो मिलती हैं वे भी सुनी-सुनायी दन्तकथाओं के आधार पर। बहुत पहले ही से लोगों के मुख से यह सुनने को मिलता है कि वे महाराज विक्रमादित्य के बड़े भाई थे। इतिहास में विक्रमादित्य नाम से भी कई राजा हुए। जैसा कि अधिकतर लोगों का कहना है, ये

विक्रमादित्य वही थे, जिन्होंने कहरूर की लड़ाई में हूणों को हराया था। यह लड़ाई आज से लगभग साढ़े-तेरह सौ वर्ष पहले, याने ६४४ ईसवी में हुई थी। यदि भर्तृहरि उन्हीं विक्रमादित्य के भाई थे तो उनका समय भी वही होना चाहिए। अर्थात् आज से साढ़े-तेरह सौ वर्ष पहले, सातवीं शती ईसवी में।

उनके बारे में यह भी कहा जाता है कि वे सात बार कभी गृहस्थ बने और कभी वानप्रस्थ। लेकिन यह बात निरी मनगढ़न्त मालूम होती है। इसको शायद उनकी कविता को पढ़ने के कारण गढ़ा गया। उन्होंने एक ओर तो ऐसी कविताएँ लिखी हैं, जिनमें शृंगार और प्रेम की बातें हैं। दूसरी ओर उन्होंने ऐसी कविताएँ लिखीं जिनमें संसार के रगड़े-झगड़े से दूर रहने की बातें, याने संसार-त्याग और वैराग्य की बातें हैं। इन्हीं आधारों पर भर्तृहरि के बारे में बातें गढ़ी गयीं।

इस तरह कुछ लोगों का यह भी कहना है कि वे राजा शूद्रक के भाई थे। लेकिन यह बात भी गढ़ी गयी मालूम होती है। इसका कोई आधार नहीं हैं।

उनको किसी ने बौद्धधर्म का अनुयायी बताया है। लेकिन वे वैदिकधर्म को मानने वाले थे। उनकी कविताओं से यह पूरी तरह स्पष्ट है। उनके गुरु का नाम वसुरात था। भर्तृहरि के बारे में इतनी ही बातें जानने को मिलती हैं।

भर्तृहरि की पुस्तकें

भर्तृहरि ने कई किताबें लिखीं। उनके नाम है— महाभाष्य दीपिका, वाक्यप्रदीप, भागवृत्ति, मीमांसा सूत्रवृत्ति और शब्द धातु समीक्षा।

उनकी 'मीमांसा सूत्रवृत्ति', मीमांसा दर्शन पर है। शेष सभी पुस्तकें व्याकरण पर हैं। इस कारण व्याकरणशास्त्र में उनका नाम बड़े आदर से लिया जाता है। उनकी 'महाभाष्य दीपिका' का बड़ा नाम है।

इनके अलावा उन्होंने तीन पुस्तकें और लिखीं। इन्हीं पुस्तकों के कारण उन्हें अधिकतर लोग जानते हैं। उनके नाम हैं— १. नीति शतक, २. शृंगार शतक और ३. वैराग्य शतक। ये तीनों पुस्तकें कविता की हैं और उनमें कोई क्रमवार कहानी नहीं कही गयी है। उनकी एक-एक कविता या श्लोक में एक-एक नयी बात कही गयी है। यही इन तीनों पुस्तकों की विशेषता है।

हम तीनों पुस्तकों में जीवन की तीन अवस्थाओं की बातें कही गयी हैं। हरएक मनुष्य की तीन अवस्थाएँ होती हैं। बालपन, जवानी और बुढ़ापा। बालपन ऐसी उम्र है, जिसमें पढ़ाई-लिखाई होती है। चरित्र को बनाने की बातें सीखीं जाती हैं। जवानी की उम्र में संसार के सुखों का उपयोग होता है। बुढ़ापा जीवन की आखिरी मंजिल है। उसमें पहुँच कर मनुष्य को दया, धर्म, परोपकार करना चाहिए।

ये तीनों पुस्तकें जीवन की इन तीन अवस्थाओं पर लिखी गयी हैं। बल्कि यों कहा जाय कि वे तीनों अवस्थाओं की कुंजियाँ है।

नीतिशतक

'नीतिशतक' में नीति की बातें कही गयी हैं। नीति, अर्थात् सदाचार, जो जीवन की नींव है और जिस पर सारा जीवन टिका हुआ है। विद्या, वीरता, साहस, मित्रता, उदारता, अच्छे विचार और अच्छी संगति इस नींव के पत्थर हैं। यह नींव जितनी ही पक्की होगी, जीवन उतना ही ऊँचा और मजबूत होगा। यह विद्या का ही फल है।

विद्या हमारे जीवन का सबसे बड़ा धन है। अन्त तक उससे हमारा साथ बना रहता है, बल्कि हमारे मरने के बाद भी उससे हमारा साथ नहीं छूटता। इस संसार में कालिदास, भवभूति और वाण आदि कवि हुए हैं, जो अब नहीं रहे। लेकिन उनके नाम सदा के लिए अमर हो चुके हैं। इसी तरह सैकड़ों-हजारों लेखकों की बातें हैं।

इसी तरह वीरता और साहस भी है। वे क्या हैं और जीवन के लिए उनकी क्यों जरूरत है, इन बातों को 'नीतिशतक' में बड़े अच्छे तौर पर कहा गया है। मित्रता से मनुष्य उन कामों को हल कर सकता है जिनको दूसरे उपायों से नहीं किया जा सकता है। जहाँ सब उपाय असफल हो जाते हैं वहाँ मित्रता ही काम आती है। अपने दैनिक के जीवन में भी हम इस बात को बराबर देखते आ रहे हैं। संसार में मित्रता को कायम करने और मनुष्य-मनुष्यको अधिक पास लाने में भी मित्रता अच्छा काम कर सकती है।

'नीतिशतक' में उदारता और परोपकार की बातों पर भी बड़ा बल दिया गया है। न केवल देने-लेने में, बल्कि विचारों से भी मनुष्य को उदार होना चाहिए। दूसरे की जरूरत पर काम आना और दूसरे की भलाई में लगे रहना ही परोपकार है।

उदारता, परोपकार अच्छी संगति और अच्छे विचार, ये ऐसे गुण हैं, जो संसार की सभी जातियों और धर्मों पर लागू होते हैं। भारत की संस्कृति, धर्म और विश्वासों पर उनका बहुत बड़ा असर है। इस देश के ये महान् आदर्श हैं। इन्ही महान् आदर्शों को भर्तृहरि ने अपने 'नीतिशतक' में बताया है।

'नीतिशतक' सरस एवं सुन्दर वाणियों का भण्डार है। उनमें ऐसे रत्न हैं, जो जीवन के लिए सहेजनीय हैं। वे अमृत वाणियाँ इस प्रकार हैं— मूर्ख की कोई औषधि नहीं; अच्छे लोगों की संगति मनुष्य को क्या नहीं बना देती; जो महान् लोग होते हैं वे जब किसी काम को हाथ में लेते हैं तो उसको पूरा करके ही चैन लेते हैं, वे दुःख और सुख की परवाह नहीं करते हैं, धीर लोगों का यह स्वभाव होता है कि वे न्याय के रास्ते से नहीं हटते, शील एवं विनय मनुष्य का सबसे बड़ा आभूषण है।

शृंगारशतक

'शृंगारशतक' उनकी दूसरी पुस्तक है। इसको लिखने में उन्होंने चुन-चुन कर शब्दों को रखा है। इसमें उन्होंने मनुष्य की जवानी के दिनों का चित्र खींचा है। जवानी के दिनों में मनुष्य शृंगार और प्रेम को अधिक पसन्द करता है। शृंगार और प्रेम की इन कविताओं को पढ़ कर किसी भी जवान का मन मचल पड़ता है।

भर्तृहरि के 'नीतिशतक' और वैरायशतक की कविता से 'शृंगारशतक' की कविता की कोई समानता नहीं। एक ही कवि एक ओर तो नीति एवं सदाचार की बातें कहता है, दूसरी ओर संसार को छोड़ने की बातें बताता है। लेकिन फिर एक ओर वह मनुष्य को इस जीवन की हँसी खुशी में रच-पच जाने की बात कहता है। एक साथ इतनी सारी बातों को इस अनोखे ढंग पर कहना किसी महान् कवि का ही काम हो सकता है।

'शृंगारशतक' की कविताओं में जवानी की उमंगों की भरमार है। उसमें ऐसा जादू है, जो हरेक जवान मन पर छा जाता है। उसकी कविताओं को पढ़ कर अघाता नहीं। बार-बार लगातार उन कविताओं को पढ़ने की इच्छा होती है।

'शृंगारशतक' की इन कविताओं में और भी कई विशेषताएँ हैं। संस्कृत पढ़े-लिखे किसी भी युवक को उन्हें गुनगुनाते सुना जा सकता है। यह लोकप्रियता भर्तृहरि को ही प्राप्त है।

वैराग्यशतक

'वैराग्यशतक' भर्तृहरि की तीसरी पुस्तक है। उसमें उन्होंने संसार के सारहीन जीवन का स्वरूप बताया है। यह संसार कुछ नहीं। इसकी हँसी-खुशी थोड़े दिन की है। यह संसार अजीब खेल है। कहीं तो हमें वीणा के मीठे सुर सुनने को मिलते हैं तो कहीं हमारे देखते-देखते ही एक दिन सबकुछ नष्ट हो जायगा। करुणा और दुख की आवाज सुनने को मिलती है। कहीं पढ़े-लिखे लोगों का जमघट है, तो कहीं शराबियों की गाली-गलौज सुनने को मिलती है। कहीं खूबसूरती है तो कहीं मन को उबा देने वाली कुरूपता। दिल को दहला देने वाला कोढ़। समझ में नहीं आता कि यह रहने लायक संसार है या छोड़ने लायक। यह हमारे लिए वरदान है कि अभिशाप?

और ये संसारी लोग? इनके हाल पर दया आती है। इनकी अज्ञानता पर दुःख होता है। उनके मुखों पर झुर्रियाँ पड़ गयी हैं। एक दिन जिनकी खूबसूरती को देखते मन नहीं अघाता था वे ही एक दिन मुरझा गये हैं, मलिन पड़ गये हैं। यही हाल शिर के बालों का भी हो गया है। एक दिन जिनकी शोभा देखते ही बनती थी, आज वे सरसों की तरह फूल गये हैं। सुफेद हो गये हैं। एक दिन अपने बल और शरीर का जिन्हें घमण्ड था, अपनी शोभा पर गर्व था। लेकिन एक दिन ऐसा आया कि उनके शरीर का हर हिस्सा बेकाम हो गया। उसने जवाब दे दिया है। अब उसको ढोना कठिन हो रहा है। जीवन की इस विषमता को नहीं मिटाया जा सकता।

यह बुढ़ापा ऐसी ही बला है। उसने हमारे शरीर को ही नहीं, हमारी इच्छा को भी झुलस दिया।

इस संसार में आकर मनुष्य हर घड़ी किसी-न-किसी नयी विपत्ति में फँसा ही रहता है। कभी बीमारी का झंझट, कभी धन के लुट जाने का डर, कभी गरीबी एवं दीनता का भय, कभी बुढ़ापे की चिन्ता, और कभी मृत्यु की काली छाया का डर। मतलब यह कि हर समय चिन्ता और भय, दुःख और शोक। यह बुढ़ाई बाघिन की तरह मुँह बाए हर समय तैयार है। वह मनुष्य को निगल जाना चाहती है। लेकिन इस

मनुष्य की हालत विचित्र है। ऐसे संकटों के बीच में भी वह दूसरे की बुराई करना, दूसरे का अहित करना नहीं छोड़ता।

भर्तृहरि ने कहा है कि इन सभी बुराइयों, चिन्ताओं, मुसीबतों और बीमारियों से छुटकारा पाने का एक ही उपाय है। वह है वैराग्य। वैराग्य को अपना कर जीवन को सही मानों में सुखी बनाया जा सकता है। संसार के जितने भी दुःख और बन्धन हैं उनको वैराग्य से ही काटा जा सकता है। वैराग्य ही एक ऐसा हथियार है, जिससे संसार को जीता जा सकता है।

भर्तृहरि की कविता

भर्तृहरि की कविता में हमें कुछ खास बातें देखने को मिलती हैं। पहली बात हमें यह देखने को मिलती है कि भर्तृहरि को संसार का गहरा अनुभव था। जीवन की सभी दिशाओं की उन्हें पूरी जानकारी थी। उनकी कविता में हमें उनके विचारों की यह गहराई देखने को मिलती है।

उन्होंने अपनी कविता में जनता के मन की बातें कही हैं। वे जनता के बीच रहे। वहाँ उन्होंने छोटी-बड़ी बातों को देखा। उनको अपनी कविता की कसौटी पर कसा। यही कारण है कि उन्होंने जो कुछ कहा उसमें एक नयी सीख, एक नया सन्देश है। उन्होंने मनुष्य की अच्छाइयों और बुराइयों को परखा। उनपर गहराई से विचार किया। जीवन की हर बुराई को भलाई में कैसे बदला जा सकता है, इसका उन्होंने सरल रास्ता बताया। उन्होंने एक जगह कहा भी है— 'जो आदमी इस मनुष्य शरीर को पाकर अच्छी बातों को नहीं अपनाता वह निरा मूर्ख है। वह ऐसा ही है, जो सोने के हल से आक की जड़ खोदने की कोशश करता है।'

उनकी नजरों में बड़ा वही है जो दूसरों के धूल-कण के बराबर गुण को भी पहाड़ जितना बड़ा समझ कर अपने लिए अपनाता है। जीवन को सफल बनाने के लिए भर्तृहरि की कविता हम सबके लिए बड़ी कारगर और उपयोगी है।

भर्तृहरि की कविता पुस्तकों की बनिस्बत लोगों की जबानों में बस गयी है। संस्कृत के कुछ ही कवि ऐसे हैं, जिनकी कविता को लोगों ने इस गहरी रुचि से अपनाया है। क्या नीति, क्या श्रृंगार और क्या वैराग्य, उनकी सभी तरह की कविताएँ लोक की जबानों में बस गयी है।

उनकी सरल, सुन्दर और मन को मोह लेने वाली शब्द-रचना ने भी उनकी कविता को लोकप्रिय बनाया। संस्कृत का गम्भीर पण्डित होते हुए भी उन्होंने कविता के लिए सरलता को नहीं छोड़ा। शब्द-रचना और विषय, दोनों को ही उन्होंने लोक की रुचि के अनुसार अपनाया। यही उनकी कविता की सफलता की कुंजी है।

भारवि और उनका युग

जीवनी और समय

भारवि संस्कृत के उत्कर्ष-युग के पहले महाकवि हैं। सौभाग्य से उनके बारे में पर्याप्त बातें अब तक जीवित रह पाई हैं। इनको जीवित रखने का श्रेय समाज को ही

है। उनके बारे में कई तरह की बातें लोगों के मुख से सुनने को मिलती हैं।

एक दन्तकथा में कहा गया है कि भारवि राजा भोज के समय हुए। वे धारानगरी के रहने वाले थे। आज जिसको हम धार नाम से कहते हैं और जो मध्यप्रदेश में है, उसी को संस्कृत में 'धारा नगरी' के नामसे कहा गया है। इस धारा नगरी का और खासकर राजा भोज का संस्कृत में बहुत बड़ा नाम है।

दन्तकथा में आगे कहा गया है कि भारवि के पिता का नाम श्रीधर और माता का नाम सुशीला देवी था। उनका विवाह भृगुकच्छ के रहने वाले चन्द्रकीर्ति की लड़की से हुआ था। भृगुकच्छ को आज भँडोच के नाम से कहा जाता है, जो कि मध्यप्रदेश में है। भारवि का जिस लड़की से विवाह हुआ उसका नाम रसिकवती या रसिका था। ससुराल में रहकर बहुत दिनों तक वे गाय चराते रहे। उनके जीवन के कुछ दिन बहुत बुरे बीते।

कहा जाता है कि भारवि के पिता अच्छे पण्डित थे। दोनों पिता-पुत्रों में कम बनती थी। भारवि को अपनी विद्या का बड़ा घमण्ड था। वे अपने आगे किसी को कुछ न समझते थे। पिता को यह बात अच्छी न लगती थी। उन्होंने भारवि को बहुत समझाया। लेकिन उन्होंने पिता की एक न सुनी। पिता ने दुःखी होकर पुत्र की ओर ध्यान देना ही छोड़ दिया। बल्कि जहाँ तक बन पड़ता, वे घर में और बाहर भी पुत्र की बुराई करते। भारवि पिता की इन बातों से संयम खो बैठे। यहाँ तक कि उन्होंने पिता को मार डालने की योजना बनाई। लेकिन भाग्य से उनकी बुद्धि एकाएक पलट गयी। वें अपने को ही दोषी मानने लगे। उनकी सब बुराइयाँ उनके आगे नाचने लगीं। एक दिन वे पिता के पैरों पर गिर पड़े। पिता से आज्ञा लेकर वे छः महीने के लिए ससुराल चले गये।

विद्या की उनके पास कमी नहीं थी। कमी थी इस बात की कि उस विद्या का इस्तेमाल किस तरह किया जाय। भारवि अब सही रास्ते पर थे। ससुराल में रहते हुए उन्हें बहुत दिन हो गये। उनकी मान-मर्यादा कम होने लगी। ससुराल के लोग उन्हें हेयदृष्टि से देखने लगे। उन्हें गाय चराने का काम दिया गया। कहा जाता है कि इसी समय उन्होंने अपने महाकाव्य की रचना आरम्भ की थी।

ससुराल में इस तरह का निरादर देखकर भारवि की स्त्री को बड़ा दुःख हुआ। वह खुद भी कई तरह के अपमान सहन करती आ रही थी। भारवि अपनी स्त्री की इस दशा को देखकर खुद भी दुःखी थे। एक दिन उन्होंने अपनी स्त्री को कविता की एक पंक्ति बनाकर दी। उसे गिरवी रखने को कहा। रसिक उसे लेकर वर्धमान सेठ की स्त्री के पास गयी। बदले में वह कुछ रुपया ले आयी।

वर्धमान सेठ को विदेश गए पन्द्रह वर्ष बीत रहे थे। इस बीच उसकी स्त्री को एक पुत्र हो गया था। सेठ की स्त्री ने उस कविता को अपने सिरहाने टाँक दिया। उसे पढ़-पढ़ कर वह पति के वियोग के दिनों को काटती रही। एक दिन सेठ घर लौट आया। घर के अन्दर जाकर उसने अपनी स्त्री के साथ एक जवान लड़के को सोया पाया। उसकी त्यौरियाँ चढ़ गयीं। वह उसको मारने के लिए ज्यों ही उस पर कटार

चलाना चाहता था कि उसकी नजर कविता पर अटक गयी। वह एकाएक रुक गया। इतने में ही उसकी स्त्री जाग गयी। तब उसे मालूम हुआ कि जवान कोई पराया नहीं, उसी का लड़का है जो उसके विदेश जाने के कुछ महीनों बाद ही पैदा हुआ था। कविता के बारे में सेठ ने सारी बातें जान ली थीं।

दूसरे दिन सेठ वर्द्धमान भारवि के पास गया। उसने कविता की दूसरी पंक्ति भी बना देने की प्रार्थना की। भारवि ने वह भी दे दी। बदले में सेठ ने बहुत-सा धन दिया। दो पंक्तियों की इस कविता को श्लोक कहा जाता है। संस्कृत की सभी कविताएँ श्लोक में ही हैं। वह श्लोक और उसका फल इस प्रकार देखा जा सकता है।

सहसा विदधीत न क्रियामविवेक: परमापदां पदम्।
वृणते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः॥ (किराता० २-३०)

(बिना सोचे-विचारे किसी काम को नहीं करना चाहिए। बिना सोचे-विचारे जो काम किया जाता है उससे तकलीफ होती है। जो व्यक्ति विचारवान और गुणी होता है, सारे धन-मान उसके चरणों में अपने आप लोटते हैं।) भारवि के बारे में लोग अब तक यही कहते आ रहे हैं।

यह दन्तकथा कहाँ तक सही है, इसके बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता है। लेकिन इतना अवश्य है कि वह एकदम झूठी नहीं हो सकती है। उसमें कुछ-न-कुछ सच्चाई जरूर है।

भारवि कहाँ पैदा हुए, इसके बारे में कई बातें कही जाती हैं। कोई उन्हें मध्य प्रदेश का, कोई उत्तर प्रदेश और कोई दक्षिण भारत का बताते हैं। उनके महाकाव्य में हिमालय का जो वर्णन किया गया है उसके आधार पर अधिकतर लोगों का कहना है कि वे उत्तर प्रदेश के थे। वे हिमालय के पास ही किसी जगह के रहने वाले थे। जो कुछ भी हो, वे हिमालय पर कई वर्षों तक अवश्य रहे। उनकी कविता से यह साफ जाहिर होता है।

आचार्य दण्डी ने 'अवन्ति सुन्दरी कथा' नाम से एक पुस्तक लिखी है। यह पुस्तक हाल ही में छपी है। इस पुस्तक में भारवि के बारे में बहुत-सी बातें लिखी हुई हैं। उसमें लिखा है कि आचार्य दण्डी भारवि के पोते थे। उसमें यह भी बताया गया है कि भारवि के पुरखे गुजरात के अनन्तपुर के रहने वाले थे। वहाँ से वे नासिक गये। बाद में वहाँ से भी दक्षिण के अचलपुर (एचिलपुर) में आकर रहने लगे। इसी वंश में नारायण स्वामी का जन्म हुआ। वे कौशिक गोत्र के ब्राह्मण थे। उनको ही भारवि का पिता बताया गया है।

भारवि के बचपन का नाम दामोदर था। 'भारवि' उनकी उपाधि थी। उनके चार पुत्र हुए। उनमें से केवल दो का नाम मालूम होता है। मँझले पुत्र का नाम मनोरथ और छोटे का नाम वीरदत्त था। यही वीरदत्त आचार्य दण्डी के पिता थे।

भारवि चालुक्य राजा पुलकेशी द्वितीय के छोटे भाई राजा विष्णुवर्धन के राजकवि थे। विष्णुवर्द्धन का समय ६१५ ई. है। इसलिए भारवि छठीं या सातवीं शती में हुए। आज से लगभग तेरह-चौदह सौ वर्ष पहले।

किरातार्जुनीय

भारवि के नाम को अमर बनाये रखने वाली उनकी एकमात्र पुस्तक है 'किरातार्जुनीय'। यह अठारह सर्गों का महाकाव्य है। इसकी कथा 'महाभारत' से ली गयी है।

'किरातार्जुनीय' की कथा कौरव-पाण्डवों के जुआ खेलने से शुरू होती है। यह जुआ द्वैत वन में खेला गया था। यहीं पर युधिष्ठिर महाराज को यह मालूम होता है कि दुर्योधन की नीयत बदल गयी है। पाण्डवों से जीते हुए राज्य को वह वापस नहीं करना चाहता। इस बात से द्रौपदी और भीम, दोनों युधिष्ठिर को कायर या डरपोक कहते हैं। लेकिन युधिष्ठिर लड़ाई न करने के अपने इरादे पर डटे रहते हैं।

इसी समय व्यास वहाँ आते हैं। ये वही व्यास हैं, जिन्होंने 'महाभारत' लिखा था। व्यास अर्जुन को बताते हैं कि वह इन्द्रकील पर्वत पर जाकर तप करें। उस तप से उसे पाशुपत अस्त्र मिलेगा। शंकर भगवान् का एक नाम पशुपति भी है। उनकी तपस्या से पाशुपत अस्त्र मिल सकता था। इन अस्त्रों की मार अचूक होती है। वे जिस पर छोड़े जाते थे उसका अन्त कर डालते थे।

इन्द्रकील पर्वत पर अर्जुन कठिन तप करते हैं। इन्द्र उनके तप को तोड़ने की साजिशें करता है। यह इसलिए कि अर्जुन को अस्त्र न मिल सके। इन्द्र एक डरावना दैत्य अर्जुन के पास भेजता है। इस बात की जानकारी होने पर शंकर भगवान् किरात का नकली वेष धारण करते हैं। किरात याने शिकारी का। दोनों उस दैत्य पर बाण छोड़ते हैं। उसको लेकर दोनों में लड़ाई होती है। किरात वेषधारी शंकर और अर्जुन की लड़ाई कई दिनों तक चलती है।

इस लड़ाई में भगवान् शंकर को अर्जुन की वीरता का पता चलता है। उनकी परीक्षा पूरी होती है। खुश होकर शंकर भगवान् अपने असली रूप में अर्जुन के सामने आते हैं। वे उन्हें 'पाशुपत' अस्त्र देते हैं। उनसे कहते हैं, 'जाओ अपने दुश्मनों पर विजय प्राप्त करो।' इन अस्त्रों को लेकर अर्जुन वापस आता है। वह युधिष्ठिर को प्रणाम करता है।

इसी घटना के साथ 'किरातार्जुनीय' की कथा पूरी हो जाती है।

भारवि की कविता

'महाभारत' की कथा का एक अंश लेकर इस महाकाव्य को रचा गया है। लेकिन दोनों के कथा कहने के तरीके में बड़ा अन्तर है। 'महाभारत' की अपेक्षा 'किरातार्जुनीय' की कथा अधिक सजीव और असर डालने वाली है। इसका यह मतलब नहीं कि उन व्यास से भारवि बढ़कर कवि हुए, जिन्होंने महाभारत की लड़ाई अपनी आँखों देखी थी। लेकिन इतना जरूर कहा जा सकता है कि 'महाभारत' के पात्रों को भारवि ने अधिक तेजस्वी रूप में पेश किया है। द्रौपदी, युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन के चरित्रों में जो ताजगी और तेजी भारवि ने दिखायी है वह 'महाभारत' में नहीं है। उन्होंने एक-एक पात्र का चित्र खींच कर पाठकों के सामने रख दिया।

'किरातार्जुनीय' संस्कृत का सबसे पहला और शक्तिशाली वीररस का महाकाव्य है। उसको रचने का एकमात्र उद्देश्य यह था कि शत्रु से किस तरह बदला लिया जाय। अर्जुन और भीम की वीरता को देखना हो तो उसे इसी महाकाव्य में देखा जा सकता है। अपने राज्य और अधिकारों को पाने के लिए पाण्डवों ने जो कुछ किया, वह इस देश की राष्ट्रीय भावना का उज्ज्वल उदाहरण है।

भारवि के इस महाकाव्य में हमें उनकी कविता के अनेक गुण देखने को मिलते हैं। उन्होंने पर्वतराज हिमालय का बड़ा ही सजीव वर्णन किया है। उन्होंने देश के सभी क्षेत्रों में अनुभव किया। वे नगरों में घूमें। गाँवों और जंगलों में गये। ग्वालों की दिनचर्या का चित्र खींचते हुए उन्होंने लिखा— 'वे गायों, बछड़ों और बैलों से भाई जैसा प्यार करते हैं। उनके साथ जंगलों में रहकर भी वे घर का आनन्द लेते हैं। अपने पशुओं की सरलता और सेवा उन्होंने अपने जीवन में उतार ली हैं।'

उनकी कविता में अर्थ की जो गम्भीरता है उसका मुकाबला सारे संस्कृत साहित्य में किसी कवि से नहीं किया जा सकता। इस माने में वे संस्कृत के सबसे बड़े कवि हैं। मल्लिनाथ के शब्दों में उनकी कविता ऐसी हैं जैसे—

नारिकेलफलसंमितं वचो
भारवेः सपदि तद् विभज्यते।
स्वादयन्तु रसगर्भनिर्भरं
सारमस्य रसिका यथेप्सितम्॥

(नारियल फल ऊपर से तो वह कठोर है लेकिन उसके भीतर रस-ही-रस है। इस रस को पाने के लिए उसमें डूब जाने की आवश्यकता है।)

यदि भारवि की कविता की तुलना कालिदास की कविता से की जाय तो कई बातें सामने आती हैं। कालिदास की कविता बाहर और भीतर एक जैसी सरस है। लेकिन भारवि की कविता में शब्दों का जाल बुना गया है। उस शब्दजाल को भेद कर भी उनकी कविता को समझने के लिए बुद्धि को पैनी करनी पड़ती है। बुद्धि के दाँव-पेंच लड़ाने के बाद ही भारवि की कविता पकड़ में आ सकती है। कालिदास की कविता में इस तरह का श्रम करने की आवश्यकता नहीं होती।

इतना होते हुए भी संस्कृत साहित्य में भारवि की कविता को बड़ा आदर-सम्मान दिया गया है। उनकी कविता से बाद के कवियों ने भी प्रेरणा ली। लेकिन बाद के कवि उस प्रेरणा को पूरी तरह नहीं निभा पाए।

माघ और उनका युग

जीवनी और समय

संस्कृत के महाकवियों में माघ का नाम बड़े आदर से लिया जाता है। संस्कृत के दूसरे कवियों की तरह माघ की जीवनी के बारे में भी बहुत कम बातें जानने को मिलती हैं। उन्होंने अपने बारे में दो-एक बातें बताई हैं। उनके पिता का नाम दत्तक

सर्वाश्रय और पितामह का या बाबा का नाम सुप्रभदेव था। उनके पितामह किसी धर्मनाभ राजा के मन्त्री थे। ये धर्मनाभ शायद गुजरात के वलभी राजाओं में से एक थे।

माघ का जन्म ब्राह्मण घराने में हुआ था। वे श्रीमाली ब्राह्मण थे। वे भीमनाल शहर में पैदा हुए थे। इस शहर का पूरा नाम श्रीमाल था। पहले वह गुजरात में था। अब वह राजस्थान में है। श्रीमाल के निवासी ब्राह्मण को आज भी श्रीमाली कहा जाता है। ये ब्राह्मण गुजरात और राजस्थान दोनों प्रदेशों में पाये जाते हैं। श्रीमाल नगरपालिका की ओर से महाकवि माघ के बारे में खोजें हो रही हैं।

माघ की पुस्तकों को पढ़कर मालूम होता है कि उनका बचपन बड़ी रईसी में बीता। उनको अच्छी शिक्षा मिली। उनकी पढ़ाई क्रमवार हुई। बड़े होकर उनके चरित में उदारता और परोपकार का उदय हुआ।

महाकवि भारवि की तरह माघ भी शायद किसी राजा के राजकवि रहे। इस बारे में यकीनन कुछ नहीं बताया जा सकता है।

माघ के बाद के दो-एक लेखकों ने भी उनके बारे में कुछ बातें कहीं हैं। कवि वल्लालसेन ने अपने 'भोजप्रबन्ध' में लिखा है कि एक बार माघ अपने मित्र भोज के यहाँ गये। भोज धारानगरी या धार (मध्यप्रदेश) के राजा थे। राजा भोज ने जब अपने दरबार में अपना मित्र आया देखा तो उनका बड़ा स्वागत-सत्कार किया। उन्हें अपना राजकवि बना दिया।

इस कथा में आगे लिखा गया है कि माघ कवि बड़े दानी थे। एक बार उन्होंने अपना सब कुछ दान में दे दिया था। जब उनके पास कुछ न रह गया तो एक दिन उन्होंने एक कविता को लेकर अपनी स्त्री को राजा भोज के पास भेजा। इस कविता को पढ़ कर राजा बहुत प्रसन्न हुआ। उसने माघ की स्त्री को बहुत-सा धन दिया। लेकिन दान करने में उनकी स्त्री उनको भी मात कर गयी। उस धन को लेकर वह अपने घर की ओर आयी। रास्ते में उसने बहुत से नंगे और भूखे लोगों को देखा। उनकी दशा देखकर उसका मन दया से भर आया। उसने वह सारा धन उन गरीबों में बाँट दिया। जब वह घर पहुँची तब भी उसके पीछे गरीबों का ताँता लगा ही रहा। माघ को सारी बातों का पता लगा। उनके पास देने के लिए कुछ न था। उन्होंने सोचा अब मेरे पास केवल अपने प्राण बचे हैं। उन्होंने अपने प्राण भी दे दिए। जब उनके पास देने को कुछ न रहा तो ऐसा जीवन जीने से उन्होंने मर जाना ही ठीक समझा।

राजा भोज को ये सारी बातें मालूम हुईं। अपने मित्र के मरने का उन्हें बड़ा दुःख हुआ। भोज ने उनका अन्तिम संस्कार किया। माघ के साथ उनकी स्त्री भी सती हो गयी।

यह कथा कहाँ तक सही है, कहा नहीं जा सकता। लेकिन इतना जरूर है कि माघ बड़े दानी स्वभाव के थे। उनकी पुस्तकों से उनके इस दानी मन का सहज ही पता चलता है। जहाँ तक उनके राजा भोज के यहाँ रहने का सवाल है, वह इतिहास की गणना से ठीक नहीं बैठता। राजा भोज का समय ग्यारहवीं शती बैठता है। माघ इससे कई सौ वर्ष पहले हुए। इसलिए यह कथा मनगढ़न्त जान पड़ती है।

उनके बारे में अब तक कई खोजें हो चुकी हैं। इन खोजों में यह तय किया गया है कि माघ आज से लगभग तेरह साढ़े-तेरह सौ वर्ष पहले हुए। उनका समय छठीं या सातवीं शती ईसवी बताया जाता है।

शिशुपाल-वध

महाकवि भारवि की तरह महाकवि माघ की केवल एक पुस्तक देखने को मिलती है। उनकी इस पुस्तक का नाम है 'शिशुपाल-वध'। उनके नाम पर उसे 'माघकाव्य' भी कहा जाता है। इस महाकाव्य में बीस सर्ग हैं। इसकी कथा भी 'महाभारत' से ली गयी है। कथा का सारांश इस प्रकार है—

एक बार देवताओं के राजा इन्द्र ने एक सन्देशा लेकर नारद मुनि को श्रीकृष्ण के पास भेजा। आकाश-मार्ग से धरती की ओर उतरते हुए नारद मुनि की वेष-भूषा उस समय देखने लायक थी। उनकी लम्बी जटायें ऐसी मालूम हो रही थीं, जैसे हिमालय की फूली हुई लताएँ हों। उनके शरीर पर झूलता हुआ मृगचर्म ऐसा दिखायी दे रहा था, मानो ऐरावत हाथी की पीठ पर रंग-बिरंगा झूला लटक रहा हो। उनके हाथ में वीणा थी।

इस वेष में वे श्रीकृष्ण के पास पहुँचे। श्रीकृष्ण ने उठकर उनका स्वागत किया। कुछ देर बाद श्रीकृष्ण ने उनके आने का कारण पूछा। नारद मुनि ने कहा, 'शिशुपाल ने सारे देवलोक को तंग कर डाला है। देवराज इन्द्र ने उसमें आपकी मदद माँगी है। देवराज ने कहा है कि आप देवताओं की इस तकलीफ को दूर करें।' श्रीकृष्ण ने आश्वत कर नारदजी को विदा कर दिया।

ठीक इसी समय बलराम और उद्धव को इन्द्रप्रस्थ से युधिष्ठिर महाराज का बुलावा आता है। वे राजसूय यज्ञ कर रहे थे। बलराम और उद्धव में बहुत-सी बातें होती हैं। बलराम का कहना है कि शिशुपाल की राजधानी चेदि पर धावा बोल देना चाहिए। लेकिन उद्धव का कहना है कि पहले युधिष्ठिर महाराज के यज्ञ में सम्मिलित होना चाहिए।

इसके बाद तय करके श्रीकृष्ण अपनी सेना के साथ युधिष्ठिर के यज्ञ के लिए इन्द्रप्रस्थ की ओर रवाना होते हैं। रात में वे रैवतक पर्वत पर डेरा डालते हैं। यहाँ पर यादव लोग श्रीकृष्ण का स्वागत-सत्कार करते हैं। इस रैवतक पर्वत का और यादवों का कवि ने बड़ा ही अच्छा वर्णन किया है।

अन्त में श्रीकृष्ण अपनी सेना के साथ इन्द्रप्रस्थ पहुँचते हैं। श्रीकृष्ण को देखने के लिए इन्द्रप्रस्थ के स्त्री-पुरुष बड़ी तादात में उमड़ पड़ते हैं। महाराज युधिष्ठिर श्रीकृष्ण की बड़े आदर के साथ आवभगत करते हैं। उनके पैर पखारते हैं।

जब शिशुपाल को श्रीकृष्ण की आवभगत का पता चलता है तो वह सहज में ही क्रुद्ध हो जाता है। युधिष्ठिर के पास जाकर वह उन्हें बुरा-भला कहता है। इस पर दोनों ओर से लड़ाई ठन जाती है। दोनों ओर घमासान लड़ाई होती है। अन्त में श्रीकृष्ण शिशुपाल का शिर काट डालते हैं।

इस प्रकार शिशुपाल के अन्त के साथ ही कथा भी पूरी हो जाती है।

माघ की कविता

इस सादी कथा को माघ ने कड़े ही सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है। अगर हम उनके महाकाव्य में ध्यान से इस कथा को पढ़ते हैं तो माघ की कविता की कई विशेषताएँ सामने आती हैं।

उनके इस महाकाव्य को पढ़कर उनके बारे में भी हमें कई नई बातों का पता लगता है। हमें मालूम होता है कि वे ऊँचे कवि तो थे ही, इसके अलावा वे राजनीति, दर्शन, संगीत, नाटक और आयुर्वेद आदि कई विषयों के भी अच्छे जानकार थे।

उनकी कविता को पढ़ने पर मालूम होता है कि वे कई वर्षों तक किसी राजदरबार में राजकवि रहे। वे राजमन्त्री भी रहे हों तो कोई शक नहीं। क्योंकि राजनीति की इतनी बारीक बातों को वही व्यक्ति जान सकता है, जिसका उनसे गहरा लगाव रहा हो। उन्होंने युद्ध के बारे में भी कई बातें कहीं हैं। शत्रु के साथ किस जगह पर कैसी नीति बरतनी चाहिए, इसकी बारीक बातों को जानने के लिए 'शिशुपाल-वध' विशेष रूप से पढ़ना चाहिए। प्रजा पर शासन कैसे करना चाहिए और अपने राज्य की रक्षा के लिए क्या-क्या करना चाहिए, इन बातों का भी अच्छा वर्णन इस महाकाव्य में किया गया है।

माघ के इस महाकाव्य को संस्कृत का विश्वकोश कहा जाता है। विश्वकोश अर्थात् संस्कृत का कोई ऐसा शब्द बाकी नहीं बचा जो कि उसमें न आया हो। कहा जाता है कि उसके नौ सेर्गों में संस्कृत का सारा शब्द-भण्डार पूरा हो गया— 'नवसर्गते माघे नवशब्दो न विद्यते।' माघ के संस्कृत-ज्ञान का यह ऐसा उदाहरण है, जो कि किसी भी लेखक में देखने को नहीं मिलता।

एक छोटी-सी सीधी-सादी बात को बना-सना कर कहने में माघ बड़े चतुर थे। उनकी कविता में पग-पग पर यह चातुरी देखने को मिलती है। उनकी कविता को पढ़ते समय पाठक उसमें डूब जाता है।

वसन्त, वर्षा आदि ऋतुओं का उन्होंने अच्छा वर्णन किया है। सन्ध्या और प्रभात-बेला के उन्होंने ऐसे चित्र खींचे हैं कि पढ़ने वाले के आगे उनकी शकल-सूरत बड़ी हो जाती है। प्रभात-बेला का वर्णन करते हुए एक जगह उन्होंने लिखा है।, 'यह प्रभात-बेला, रात की कन्या है, जो कि अभी-अभी पैदा हुई। लाल कमलों की पंक्तियाँ उसकी हथेली और पंखुड़ियाँ उसकी उँगलियाँ हैं। वह बड़ी रूपवती एवं सुन्दर है। यह भौंरा की कजरारी पाँति ही उसके सुन्दर आँखों का काजल है। ये रिवले हुए कमल उसकी बड़ी-बड़ी दो आँखें हैं। और पक्षियों का कलरव ही उसका मधुर गीत है।'

कालिदास के बाद माघ का दूसरा स्थान है। उनकी कविता में वे सभी गुण हैं जो कि उनको महान् बना देते हैं। उनकी कविता के बारे में धनपाल नाम के एक कवि ने ठीक ही कहा है—

माघेन विघ्नितोत्साहा नोत्सहन्ते पदक्रमे।
स्मरन्तो भारवेरेव कवयः कपयो यथा॥

(माघ महीने के ठिठुरते हुए जाड़े में जिस तरह बन्दर सूर्य की याद करते और दुबक कर रह जाते हैं, उसी तरह कविता की उड़ान भरने के लिए तैयार दूसरे कवि माघ की कविता को याद करके ठण्डे पड़ जाते हैं।)

माघ की कविता में सभी गुण देखने को मिलते हैं। उनकी कविता में कालिदास की सरलता और सरसता है। भारवि की चातुरी और गहराई है। दण्डी की सुन्दर पदावली है। कविता के क्षेत्र में वे कालिदास के बाद दूसरे महाकवि हैं।

उनकी कविता में जीवन की गहराई है। लोक की विशाल भावनाओं का समादर है। ऐसा मालूम होता है कि समाज के छोटे-बड़े सभी वर्गों का उन्होंने सूक्ष्मता से अनुभव किया। मनुष्य के मनोभावों को सही रूप में उतारने के लिए उन्होंने कालिदास के कौशल को अपनाया।

यही कारण है कि महाकवि माघ को संस्कृत में ऊंचा दर्जा दिया गया है।

बाणभट्ट और उनका युग

गद्य काव्य

बाणभट्ट और उनके युग के बारे में जानने से पहले हमें गद्य काव्य के बारे में जान लेना चाहिए। वह इसलिए कि बाण का नाम इस गद्य के ही कारण अमर है। संस्कृत साहित्य में बाण को गद्य काव्य का पिता माना जाता है।

संसार की हरएक भाषा में लिखने और बोलने के दो तरीके हैं। एक को गद्य और दूसरे को पद्य कहा जाता है। पद्य का दूसरा नाम कविता है। कविता में हरएक शब्द और वाक्य नपा-तुला होता है। पद्य या कविता का एक नाम छन्द भी है। गद्य कहते हैं बोल-चाल को। अपने रोज के जीवन में बोल-चाल के लिए हम जिस भाषा का प्रयोग करते हैं वही गद्य है।

ये पद्य और गद्य जब लिखने में प्रयुक्त किए जाते हैं तब वे काव्य का रूप ले लेते हैं। इस तरह काव्य दो तरह से लिखा जाता है। एक गद्य काव्य और दूसरा पद्य काव्य। संस्कृत में दोनों तरह के काव्य लिखे गये।

इस धरती पर मनुष्य ने जब बोलना शुरू किया तो उसने गद्य में ही कहा। इसलिए पद्य की अपेक्षा गद्य पुराना है। इस गद्य भाषा में पुस्तकें लिखनी कब से शुरू हुईं, इसका ठीक-ठीक इतिहास बताना कठिन है। वेद हमारी पहली पुस्तक है। उनमें भी हमें गद्य के नमूने देखने को मिलते हैं। उसके बाद की पुस्तकों में भी गद्य का रूप देखने को मिलता है। लेकिन जिस गद्य को काव्य-रचना के लिए अपनाया गया उस गद्य से वेदों का गद्य अलग है।

काव्य-रचना के लिए गद्य का सुथरा और निखरा रूप लगभग सातवीं शती में सामने आया। आज से लगभग तेरह सौ वर्ष पहले। काव्य के लिए गद्य का उपयोग करने वाले तीन लेखक थे। उनके नाम हैं— सुबन्धु, दण्डी और बाणभट्ट। ये तीनों गद्यकार लगभग एक ही शती के भीतर हुए। संस्कृत गद्यकाव्य की थाती के ये तीनों ही कर्णधार हैं। इसलिए इनके बारे में भी कुछ बातें जान लेनी चाहिए।

सुबन्धु

सुबन्धु के बारे में कुछ मालूम नहीं होता। कुछ लोग उन्हें काश्मीरी बताते हैं और कुछ मध्यप्रदेश के। जहाँ तक उनके समय की बात है, वे दण्डी और बाणभट्ट से पहले हुए। अब इस बात को सभी लोग मानते हैं। अधिकतर इतिहासकार उनका समय छठीं शती के अन्त में मानते हैं।

संस्कृत साहित्य में जिस पुस्तक के कारण सुबन्धु का आदर हुआ उसका नाम है 'वासवदत्ता'। वही उनकी अकेली पुस्तक है। संस्कृत में जिस लोकप्रिय गद्य का रूप सामने आया, 'वासवदता' उसका पहला उदाहरण है।

'वासवदत्ता' में राजकुमार कन्दर्पकेतु और राजकुमारी वासवदत्ता की प्रेम-कहानी कही गयी है। अपनी इस पुस्तक को सुबन्धु ने एक छोटे उपन्यास का रूप दिया है। लेकिन उसको हम एक लम्बी कहानी कहना अधिक उचित समझते हैं। इसमें पात्र भी कम हैं। एक छोटी-सी प्रेम-कहानी को खींचकर लम्बा बनाने की इसमें कोशिश की गयी है। उसके लिए बीच-बीच में दूसरी छोटी-छोटी कहानियों को जोड़ा गया है। इन छोटी कहानियों ने मुख्य कहानी को कमजोर बना दिया है। यह उसकी कमी है।

इसके अलावा 'वासवदत्ता' की कथा में और भी कई कमियाँ हैं। उदाहरण के लिए, उसके लेखक ने शब्दों का जाल-सा बिछा दिया है। इसके साथ ही वाक्य बहुत लम्बे कर दिये हैं। उसमें पाण्डित्य-प्रदर्शन अधिक है। इन सब बातों के कारण 'वासवदत्ता' उतनी लोकप्रिय न हो सकी। लेकिन गद्य की पहली पुस्तक होने के कारण उसका नाम तो है ही।

दण्डी

सुबन्धु के बाद संस्कृत के दूसरे गद्यकार का नाम है दण्डी।

दण्डी की जीवनी के बारे में उनकी पुस्तक 'अवन्तिसुन्दरी' में कुछ बातें कही गयी हैं। उनसे मालूम होता है कि उनके पुरखे गुजरात में घनिन्दपुर के रहने वाले थे। वहाँ से वे नासिक गये और उसके बाद अचलपुर या एचिलपुर में आकर बस गए। इसी वंश में नारायण स्वामी पैदा हुए। उनके पुत्र का नाम भारवि था। ये भारवि वही हैं, जिन्होंने 'किरातार्जुनीय' महाकाव्य लिखा। भारवि के मझले पुत्र का नाम मनोरथ था। उसके चार पुत्र हुए। उनमें सबसे छोटे का नाम वीरदत्त था। वीरदत्त की स्त्री का नाम गौरी था। ये ही दण्डी के माता पिता थे। इस कथा से मालूम होता है कि दण्डी महाकवि भारवि के पौत्र थे।

दण्डी का जन्म कांची या कांजीवर में हुआ, जो कि दक्षिण भारत में है। वे सातवीं शती के शुरू में अर्थात् आज से ठीक तेरह सौ वर्ष पहले हुए। सुबन्धु के कुछ वर्ष बाद ही उनका जन्म हुआ।

उन्होंने तीन पुस्तकें लिखीं। उनके नाम हैं। 'काव्यादर्श', 'दशकुमारचरित' और 'अवन्तिसुन्दरी कथा'।

'काव्यादर्श' काव्यशास्त्र का ग्रन्थ है। उसमें काव्य-रचना के तरीके बताये गये हैं। 'अवन्तिसुन्दरी कथा' एक प्रेम-कहानी है। 'दशकुमारचरित' में इन कुमारों की कथाएँ हैं। उनमें भी अधिकतर कहानियाँ प्रेम को लेकर लिखी गयी है।

संस्कृत के गद्य काव्यों में दण्डी के 'दशकुमारचरित' का बड़ा आदर है। ऐसा मालूम होता है कि अपनी इस पुस्तक को उन्होंने 'पंचतन्त्र' और 'हितोपदेश' की प्रेरणा से लिखा है। गुणाढ्य की 'वृहत्कथा' भी अवश्य उनके सामने थी। अपने से पहले की इन पुस्तकों का उन पर गहरा प्रभाव है।

उनके 'दशकुमारचरित' में सरल भाषा का प्रयोग किया गया है। उसकी कथाओं में लोक-जीवन की अच्छी झाँकियाँ उतारी गयी हैं। उनकी लोकप्रियता का यह सबसे बड़ा कारण है। उनमें राजकुमार, राजकुमारी, चोर, जादूगर, साधु, जुआरी, पाखण्डी, ठग और धूर्त आदि समाज के सभी वर्गों के पात्र हैं।

उनके वर्णन बड़े सजीव हैं। इसलिए पढ़ने पर उनका सीधा असर होता है। 'दशकुमारचरित' की कहानियों में उनकी अनोखी सूझ-बूझ देखने को मिलती है।

एक गद्यकार की अपेक्षा दण्डी को एक आचार्य के रूप में अधिक माना जाता है।

बाण की जीवनी और समय

सुबन्धु और दण्डी के बाद यहाँ हम एक ऐसे गद्यकार के बारे में बताने जा रहे हैं, जिसका नाम अपने देशवासी ही नहीं, सारे संसार के लोग जानते हैं। उनका नाम है बाणभट्ट।

सारे संस्कृत साहित्य में बाणभट्ट ही ऐसे लेखक हुए, जिन्होंने अपने बारे में बहुत-सी बातें लिखी हैं। इससे उनकी सूझ-बूझ ही नहीं, उनका इतिहास-प्रेम भी मालूम होता है। लेखक का आत्मचरित आगे आने वाली पीढ़ियों के लिए कितना उपयोगी हो सकता है, बाण ने यह नया आदर्श सामने रखा।

'हर्षचरित' और 'कादम्बरी' उनकी दो पुस्तकें हैं। इनके बारे में आगे बताया जायगा अपनी इन दोनों पुस्तकों में उन्होंने अपना परिचय दिया है। 'हर्षचरित' के पहले तीन उच्छ्वासों में उन्होंने आत्मकथा कही है। 'हर्षचरित' को एक प्रकार से बाण की आत्मकथा ही कहना चाहिए।

बाण की इस आत्मकथा से हमें मालूम होता है कि उनका जन्म प्रीतिकूट नाम के गाँव में हुआ था। यह गाँव च्यवन ऋषि के आश्रम के आस-पास था। इस गाँव को दधीचि एवं सरस्वती के पुत्र सारस्वत ने अपने चचेरे भाई वत्स के लिए बनवाया था। वत्स की माता का नाम अक्षमाला था। यह दधीचि के छोटे भाई की स्त्री थी। इस बस्ती को बाण ने 'ब्राह्मणाधिवास' कहा है। वहाँ ज्यादातर ब्राह्मण रहते थे।

पुराने जमाने में जहाँ यह च्यवन ऋषि का आश्रम था, उसको आज देवकूट या देवकुण्ड के नाम से कहा जाता है। वहाँ अब जंगल ही जंगल है। वह गया जिले में है। खोज करने पर यह भी मालूम हुआ है कि शोण नदी के किनारे शोणभद्र नाम का एक गाँव था। वहाँ के निवासी अपने को वत्सगोत्र के बताते थे। ये लोग आज भी वहाँ हैं। बाण भी इसी गोत्र के थे।

पुत्र सारस्वत को जन्म देने के बाद सरस्वती स्वर्ग सिधार गयी। उसके बाद सारस्वत और वत्स दोनों बालकों का लालन-पालन अक्षमाला ने ही किया। बड़े होकर सारस्वत ने अपने भाई वत्स के प्रेम या प्रीति में उसी बस्ती को प्रीतिकूट नाम से कहा। उसने कोई विवाह नहीं किया था।

वत्स का एक पुत्र हुआ। उसका नाम था वात्स्यायन। वह मुनि एवं तपस्वी होता हुआ भी गृहस्थ था। उसका एक पुत्र हुआ, जिसका नाम कुबेर था। वह भी वेद तथा शास्त्रों का जानकार था। उसके घर पर ब्रह्मचारी लोग बड़ी सावधानी से वेद पढ़ा करते थे। सावधानी से इसलिए कि पिंजड़ों में टँगी हुई सुक-सारिकाएँ कहीं उनको टोक न दें। इसका मतलब हुआ कि कुबेर इतना भारी विद्वान् था कि जिसके घर की मैनाएँ भी वेद-शास्त्रों की जानकार थीं।

कुबेर के चार पुत्र हुए। उनके नाम थे— अच्युत, ईशान, हर और पाशुपत। पाशुपत का पुत्र हुआ अर्थपति। अर्थपति के ग्यारह पुत्र हुए। उसके आठवें पुत्र का नाम था चित्रभानु। चित्रभानु की स्त्री का नाम राजदेवी था। ये ही बाण के माता-पिता थे।

बाण के पुरखों का यही परिचय है।

अपनी इस आत्मकथा में बाण ने आगे लिखा है—

जब वे चौदह वर्ष के हुए तो पिता परलोक सिधार गए। माता पहले ही उन्हें छोड़ चली थीं।

इस प्रकार असमय में ही बाण के शिर से माता-पिता का साया उठ गया। उससे बाण की जीवन-धारा ही बदल गयी। अब वे सब तरह से आजाद थे। धीरे-धीरे जवानी आयी। जवानी की उमंगों ने उन्हें जहाँ चाहा, वहाँ लिया। अपने कुछ हमउम्र दोस्तों के साथ वे घर से निकल पड़े। वे देश-देश घूमते रहे। इसी बीच दोस्तों का साथ न जाने कब छूटा। तब वे अकेले ही घूमते रहे।

उन्होंने अच्छे-बुरे सब तरह के दिन देखे। कई राजदरबारों में गए। गुरुकुलों में रहे। बड़े-बड़े विद्वानों की संगत की। विद्या के लिए उनमें रुचि जगती ही रही। इस तरह अपने वर्षों के अनुभवों को बटोर कर एक दिन वे अपने घर लौट आये।

घर पर आये उनको कुछ ही दिन हुए थे कि उन्हें एक पत्र मिला। पत्र राजा हर्षवर्द्धन के भाई कृष्ण ने लिखा था। उसमें लिखा था कि 'लोगों ने महाराज से तुम्हारी शिकायत की है इसलिए तुम्हें जल्दी ही महाराज को अपनी सफाई देनी चाहिए। 'बाण दरबार में हाजिर हुए। उन्हें महाराज हर्ष के सामने पेश किया गया। महाराज ने लापरवाही से मुँह मोड़ लिया। कुछ खरी-छोटी भी सुनाई। बाण ने महाराज की बातों को बड़े धीरज से सुना। उन्होंने महाराज को अपने ऊँचे वंश और विद्वान् पुरखों के बारे में बताया। अपनी विद्या का भी परिचय दिया। महाराज से उन्होंने पिछले दिनों की बातें छोड़ नया जीवन बिताने की बात भी कही। लेकिन महाराज हर्ष को वे खुश न कर पाये।

बाण ने ठीक वैसा ही किया। वे अपने रास्ते पर लौट आए। थोड़े ही दिनों में महाराज को उनकी विद्या-बुद्धि का पता लगा। इधर महाराज के भाई कृष्ण ने भी बाण

की बड़ी मदद की। बाण के बारे में महाराज हर्ष के मन में जो बुरी धारणा बन गयी थी, उन्होंने उसे दूर किया। महाराज ने खुश होकर एक दिन बाण को अपने दरबार में बुलाया और अपने यहाँ रख लिया। उन्हें कविचक्रवर्ती की सबसे बड़ी उपाधि से सम्मानित किया।

राजदरबार में रहने के कुछ समय बाद बाण अपने घर लौट आये। उनके भाई-बन्धुओं ने उनकी खूब आव-भगत की। उनसे राजदरबार की बातें पूछीं। महाराज हर्ष के बारे में कथा सुनाने के लिए कहा। उन्हीं को बाण ने सबसे पहले 'हर्षचरित' सुनाया।

बाण कब हुए, उसके बारे में भी साफ है। वे महाराज हर्षवर्द्धन के राजकवि थे। अक्टूबर ६०६ ई. में हर्ष राजगद्दी पर बैठे और ६४८ ईसवी में उनका स्वर्गवास हुआ। हर्ष के सम्बन्ध की ये तिथियाँ दानपत्रों और ताम्रपत्रों पर खुदी हैं। वे आज भी सुरक्षित हैं। इसलिए बाण सातवीं शती के शुरू में हुए, आज से लगभग बारह-तेरह सौ वर्ष पहले।

बाण की पुस्तकें

जैसा कि पहले बताया गया है 'हर्षचरित' और 'कादम्बरी' उनकी दो महान् पुस्तकें हैं। उनके नाम से 'चण्डीशतक' और 'मुकुटताडितक' नाटक का भी उल्लेख किया जाता है। लेकिन उनके नाम को अमर बनाने वाली उनकी दो ही पुस्तकें हैं।

हर्षचरित

'हर्षचरित' बाण की पहली पुस्तक है। उसमें आठ उच्छवास हैं। पहले के तीन उच्छवासों में बाण ने आत्महत्या लिखी है। आगे के पाँच उच्छवासों में महाराज हर्ष और उनके पुरखों का वर्णन किया गया है। इसको लिखने का उनका यह उद्देश्य मालूम होता है कि अपने और अपने आश्रय देने वाले महाराज हर्ष की कथा को एकसाथ लिखा जाय। 'हर्षचरित' की यह कथा उन्होंने अपने भाई-बन्धुओं को सुनायी थी।

इस पुस्तक के बारे में यह कहा जाता है कि उसका हर्ष की कथा वाला अंश कुछ कमजोर है। उसमें हर्ष के जीवन-वृत्त की अपेक्षा उसके राजसी ठाट-बाट का अधिक वर्णन है। उसमें भी सच्चाई कम और प्रशंसा अधिक है। इस बारे में यह भी कहा जाता है कि बाण ने इस कथा को हर्ष को सुनाया था। बाण को जैसी आशा थी, उसके विपरीत हर्ष ने उसे उतना पसन्द नहीं किया। इसलिए उसका अन्तिम भाग कमजोर हो गया। उसको लिखने में बाण को उतना उत्साह नहीं रहा।

'हर्षचरित' को बाण अधूरा ही लिख पाए थे। इसका कारण यह मालूम होता है कि हर्ष के मरने के बाद बाण भी उदासीन हो गये।

'हर्षचरित' के बारे में कुछ बातें जान ली जायें—

'हर्षचरित' में बाण ने अपनी और अपने आश्रय देने वाले महाराज हर्ष की जीवनी लिखी है। संस्कृत के लिए यह नयी देन थी। इससे साहित्य में उसका अधिक आदर होने लगा। इसके अलावा 'हर्षचरित' में और भी कई बातें देखने को मिलती हैं। उदाहरण के लिए इस देश का जीवन, धर्म, साहित्य, संस्कृति और कला की सुन्दर

झाँकियाँ उसमें देखने को मिलती हैं। इस महान् राष्ट्र के पुराने गौरव का सही रूप उसमें लिखा हुआ है। सब लोगों को अपने ज्ञान और अपनी बुद्धि पर घमण्ड था।

उस युग के लोगों में काव्य और कला के लिए अथाह प्रेम था। उस युग के समाज में ऐसी सभाएँ या गोष्ठियाँ थीं, जिनमें काव्य, कला, संगीत, साहित्य, इतिहास और पुराण पर जमकर वार्तालाप होता था। कलाओं और शास्त्रों के सुनने में लोगों को रुचि थी।

वह युग धर्म, संस्कृति और आचार-विचारों में भी बहुत बढ़ा-चढ़ा था। उस युग का चित्र खींचते हुए बाण ने लिखा है, 'वे लोग धर्म की डोरी से मर्यादित थे। झूठ और घमण्ड को पास नहीं फटकने देते थे। कपट, छल और शेखी बघारने की आदत उनमें नहीं थी। वे पापों से बचते थे। अपनी आदतों को निर्मल रखते थे। दूसरे की बुराई नहीं करते थे। वे सब पर दया करते थे। वे रसिक थे, बुद्धिमान थे, अनेक भाषाओं को जानते थे, और हास-परिहास के प्रेमी थे। उस समय विद्या के लिए, ज्ञान पाने के लिए लोगों में बड़ी रुचि थी। नालन्दा, काशी, अवन्ती, मथुरा और तक्षशिला; ये उस युग के महान् विद्या-केन्द्र थे। ये गुरुकुल थे। विश्वविद्यालयों की तरह थे। प्रत्येक शास्त्र को पढ़ने के लिए समय नियत किया गया था। एक शास्त्र को पढ़ लेने के बाद उसके बारे में सवाल-जवाब होते थे। उनमें सही साबित होने वाले छात्र को उपाधि दी जाती थी। यही उस युग की परीक्षा थी, इम्तहान था।'

बाण लम्बे अर्से तक राजदरबार में रहे थे। इसलिए राजदरबारों की छोटी-बड़ी बातों की उन्हें बारीक जानकारी थी। उन्होंने वहाँ के वैभव देखे थे। तारीफों के पुलिन्दे बिछाने वाले खुशामदपसन्द लोगों का ठिठोलापन देखा था। ये सब बातें 'हर्षचरित' में देखने को मिलती हैं।

कादम्बरी

'कादम्बरी' बाण की ही नहीं, सारे संस्कृत साहित्य का कण्ठहार है। वह पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दो भागों में है। उसका पहले का आधा हिस्सा लिखने के बाद बाण का स्वर्गवास हो गया था। उसके बाद का आधा हिस्सा उनके पुत्र भूषणभट्ट ने लिखा था।

ऐसा कहा जाता है कि 'कादम्बरी' की कथा को बाण ने गुणाढंय की 'बृहत्कथा' से लिया था। लेकिन उसको उन्होंने अपने ही तरीके से सँवारा-सुधारा। कथा इस प्रकार है-

बहुत पुराने जमाने की बात है। उन दिनों विदिशा में राजा शुद्रक राज्य करते थे। आजकल जिसे भिलसा कहा जाता है और जो मध्यप्रदेश में है। उसे ही पुराने जमाने में विदिशा नाम से कहा जाता था। उस राजा को एक चाण्डाल कन्या ने एक शुक (तोता) भेंट किया। यह शुक बड़ा विद्वान् और बुद्धिमान था। उसे अपने पहले जन्म की कथा याद थी। इस कथा को एक बार जाबालि मुनि ने शुक को सुनाया था। उसी कथा को शुक ने राजा शूद्रक को सुनाया। यह कथा इस प्रकार है—

उज्जैन में तारापीड नाम का एक राजा था। उसकी रानी का नाम विलासवती था। उनसे एक पुत्र पैदा हुआ। उसका नाम चन्द्रापीड था। जब वह जवान हुआ तो एक दिन सारे देश के राजाओं को जीतने के लिए घर से सेना के साथ निकल पड़ा। इस तरह की लड़ाई को 'दिग्विजय' कहा जाता है। इस दिग्विजय में राजकुमार चन्द्रापीड ने अपने मित्र शुकनाश को भी साथ ले लिया। एक बार राजकुमार चन्द्रापीड घूमते-घूमते अच्छोद नाम के एक सुन्दर तालाब पर जा पहुँचा। वहाँ राजकुमार ने एक सुन्दर स्त्री को देखा। उसका नाम था महाश्वेता। वह गन्धर्वों की कन्या थी। वहाँ वह अपने प्रेमी को पाने के लिए वर्षों से तप कर रही थी।

एक बार महाश्वेता ने पुण्डरीक नामक किसी तपस्वी को देखा। वह जवान और बहुत सुन्दर था। पुण्डरीक को भी महाश्वेता अच्छी लगी। वह महाश्वेता को इतना चाहने लगा कि उसको पाने से पहले ही उसके वियोग में मर गया। इस पर महाश्वेता भी सब कुछ छोड़ कर तपस्विनी बन गयी। वह अपने पुण्डरीक को पाने के लिए अच्छोद सरोवर के किनारे समाधि लगा कर बैठ गयी।

महाश्वेता की एक हम उम्र सहेली थी। उसका नाम था कादम्बरी। अपनी सहेली महाश्वेता के दुःख में वह भी दुःखी थी। उसने भी प्रण कर लिया था कि वह भी तब तक कुँवारी ही रहेगी जब तक महाश्वेता के मन की मुराद पूरी न होगी। महाश्वेता ने ही राजकुमार चन्द्रापीड को यह बात बतायी।

महाश्वेता राजकुमार चन्द्रापीड को लेकर कादम्बरी के पास गई। दोनों ने उसको समझाया। राजकुमार को देखते ही वह उसको चाहने लगी। राजकुमार भी कादम्बरी पर रीझ गया। इसी बीच राजकुमार के घर उज्जैन से बुलावा आ गया। वह राजधानी लौट आया। सेना को वापस लाने का काम उसने अपने मित्र वैशम्पायन पर छोड़ दिया।

बहुत समय बीत जाने पर भी वैशम्पायन वापस न आया। तब चन्द्रापीड उसकी खोज में फिर अच्छोद सरोवर गया। वहाँ महाश्वेता से राजकुमार को जो समाचार मिला वह बहुत बुरा था। हुआ यह कि महाश्वेता को देखते ही वैशम्पायन उसको चाहने लगा था। उसने महाश्वेता से विवाह करने के लिए कहा। महाश्वेता ने उसे बताया कि वह अपने प्रेमी को चुन चुकी है। महाश्वेता के बहुत समझाने पर भी वह न माना। तब महाश्वेता ने उसे शाप दे दिया कि वह शुक योनि में जन्म ले। वह शुक बन गया। चन्द्रापीड का यह सुनना था कि अपने प्यारे मित्र के वियोग को वह सहन न कर सका। उसके भी प्राण निकल गए।

इसी समय कादम्बरी भी वहाँ आयी। उसने देखा कि राजकुमार का प्राण निकल चुका है। वह भी उसके साथ मरने के लिए तैयार हो गयी। ठीक इसी समय आकाशवाणी हुई। आकाशवाणी में कहा गया कि थोड़े ही समय में महाश्वेता और कादम्बरी दोनों अपने-अपने प्रेमियों को पाने में सफल होंगे।

आगे की कथा में शुक ने राजा शूद्रक से कहा— हे राजा! जाबालि मनि से जब मैंने आपके पहले जन्म की यह कथा सुनी तो महाश्वेता को पाने के लिए मेरा मन

मचल पड़ा। मैं वहाँ से उड़ा। लेकिन इस चाण्डाल कन्या ने पकड़ कर मुझे पिंजरे में बन्द कर दिया। इससे आगे मैं कुछ नहीं जानता।

इसके बाद चाण्डाल कन्या ने कथा को आगे बढ़ाया। उसने राजा से कहा— हे राजन्! मैं वैशम्पायन की माता लक्ष्मी हूँ। आप ही पूर्व जन्म में राजकुमार चन्द्रापीड थे। हम सब शाप से इन जन्मों में आये। अब हम सबके शाप का समय पूरा हो गया है। शूद्रक को भी अपने पहले जन्म की बातें याद हो आईं। इधर उसके प्राण निकल गए और उधर चन्द्रापीड जीवित हो उठा।

इस तरह वैशम्पायन तथा महाश्वेता और चन्द्रापीड तथा कादम्बरी का मिलन हुआ। वे सभी सुख से रहने लगे।

इस आनन्द और खुशी में बाण ने कादम्बरी की कथा पूर्ण की।

कादम्बरी की इस कथा में तीन-तीन जन्मों का हाल बताया गया है। विदिशा का राजा शूद्रक पूर्व जन्म में चन्द्रापीड के नाम से हुआ। उससे भी पहले जन्म में वह चन्द्रमा था। उसको शाप मिला। वह चन्द्रलोक से गिर कर मनुष्यलोक में आया। इसी तरह वैशम्पायन तोता अपने पूर्व जन्म में उज्जैन के राजमन्त्री का पुत्र था। उससे भी पहले जन्म में अश्वकेतु के घर पुण्डरीक के नाम से पैदा हो चुका था। शाप के ही कारण वह भी देवलोक से गिर कर मनुष्यलोक में पैदा हुआ। इसी तरह चाण्डाल कन्या अपने पूर्व जन्म में वैशम्पायन की माता लक्ष्मी थी। उससे भी पहले जन्म में वह देवलोक की अप्सरा थी। वह भी शाप से गिर कर मनुष्यलोक में आयी।

शुक की कथा पूरी होने के बाद सभी शाप से मुक्त हुए।

'कादम्बरी' की यह कहानी बड़ी रोचक और कुतूहल से भरी है। उसके सभी पात्रों का जीवन रहस्यों से भरा हुआ है। रहस्यों का पिटारा पाठक को अन्त तक उसमें उलझाए रहता है। आशा और निराशा के झूलों में झूलता हुआ पाठक आगे-आगे की घटनाओं को जानने के लिए आतुर बना रहता है। बाण के कथा-कौशल की यह सबसे बड़ी विशेषता है।

बाण की कविता

बाण की इन दोनों पुस्तकों से हमें कई तरह की नयी जानकारियाँ मिलती हैं। उनमें पहली बात तो यह मालूम होती है कि उस समय कविता के बारे में लोगों के क्या विचार थे। ऐसा मालूम होता है कि कविता को लोगों ने एक मजाक बनाया हुआ था। जो चाहे वही कविता लिख सकता था। बाण ने लिखा है कि ऐसे कवि विरले ही देखने को मिलते हैं जो सही मानो में कविता लिखते हों। आज तो घर-घर में ऐसे कवियों का बोल-बाला है जो बाल की खाल उतारने को ही कविता मानते हैं। मनमाने ढंग से कविता करने वाले ऐसे 'कुकवियों की भरमार ही चारों ओर देखने को मिलती है।'

बाण ने कविता के नये आदर्श को जनता के सामने रखा। उन्होंने कविता में नये निर्माण की बातों पर बल दिया। उन्होंने 'हर्षचरित' में कविता के पाँच गुणों का वर्णन किया—

नवोऽर्थो जातिरग्राम्या श्लेषोऽक्लिष्टः स्फुटो रसः।
विकटाक्षरबन्धश्च कृत्स्नमेकत्र दुष्करम्॥ (हर्ष. ८)

बाण ने उस कविता की प्रशंसा की, जो पढ़ने और सुनाने वाले के मन को अच्छी लगे। उसमें नये अर्थों की कल्पना हो।

उन्होंने गद्य काव्य के तरीकों या शैलियों को भी नया रूप दिया। कथा में उन्होंने दो तरह के आवश्यक गुण बताए। एक तो यह कि कथा ऐसी हो जो सबकी समझ में आ सके। दूसरे में जिन शब्दों और अक्षरों में वह लिखी जाय वे मधुर हों, सुनने में अच्छे लगें। उन्होंने लिखा, 'ऐसी कथा, जो सरलता से समझ में आ सके, सुन्दर लगे और सही अर्थ को बताने वाली हो, उस आरामदेह शय्या की तरह है जिस पर सुख से सोया जा सकता है।'

बाण की कविता की अपनी अलग विशेषता है। किसी बात को वे तब तक कहते हैं, जब तक कि उसके बारे में कुछ कहने को बाकी न बच जाय। उनकी शैली की यह बहुत बड़ी विशेषता है। भाषा के वे जादूगर हैं। भाषा उनके इशारों पर नाचती हुई जान पड़ती है। इसलिए उनकी भाषा को उनके बाद के कवियों ने 'संसार का मन मोहने वाली' कहा है।

बाण सही मानो में महान् लेखक थे। प्रतिभा उनको जन्म से ही मिली थी। ऐसी प्रतिभा, जिसमें वे संसार की हर चीज आइने की तरह सामने देख सकते हैं। वे मनुष्य के मन की बात को जैसा-का-तैसा कलम की नोक पर उतार सकते थे। उन्होंने 'कादम्बरी' में एक जगह कहा है, 'कवि का मन जब कविता करना चाहता है तब उसमें समुद्र की तरह हिलोलें या तरंगें उठती हैं। ऐसी हालत में संसार की कोई भी चीज उससे ओझल नहीं रह पाती। सब बातों को वह अपनी कल्पना से, अपनी कलम से उतार देता है।'

संस्कृत के लिए उनकी यह नयी देन थी। बाण के बाद जितने भी अच्छे कवि एवं गद्यकार हुए उन सब ने बाण की शैली को अपना आदर्श बनाया। इसीलिए बाण को अपने युग का सबसे बड़ा कवि और गद्यकार कहा जाता है।

बाण की पुस्तकों से उनके घुमन्तु स्वभाव का भी परिचय मिलता है। वे समाज के सभी वर्गों के बीच रहे। देश के एक छोर से दूसरे छोर तक गये। उन्होंने गाँव-गाँव का भ्रमण किया। वे घनघोर जंगलों में रहे। राजमहलों में रहे। बड़े-बड़े लोगों की संगति की। सभी बातों की अच्छाइयों का उन्होंने वर्णन किया है। वनगाँव के निवासियों और विन्ध्याटवी की सुन्दरता का उन्होंने जो वर्णन किया है वह बेजोड़ है। विन्ध्याटवी का वर्णन करते हुए बाण ने लिखा है—

'कुछ ही दिनों की व्याही बन कुक्कुटी अपने कोटर में बैठी थी। गौरैय्या चुडकलों को उड़ाते समय चूँ-चूँ का शोर मचा रही थी। चकोर अपनी चकोरी को चोंच से चुग्गा दे रहा था। झुंडना नाम का पक्षी निडर होकर पक्के पीलुओं के फल खा रहे थे।'

बाण के ये वर्णन बड़े सजीव और मार्मिक हैं। उसका कारण यह है कि उन्होंने जो कुछ कहा, उसको अपनी आँखों से देखा और महसूस किया। अपने भुक्तभोगी जीवन का एक बड़ा ही सुन्दर चित्र उन्होंने उतारा है। वह आज के जीवन पर भी उतना ही लागू होता है। राज्य की चाकरी का काम कितना कठिन होता है, इसके बारे में उन्होंने लिखा है—

'नौकर की अपनी इज्जत कुछ नहीं होती। भला उसके पापों की भी कोई गिनती है। उसे सुधारने का क्या उपाय हो सकता है? वह शान्ति के लिए कहाँ जाय। उसके जीवन की क्या गिनती? यह चाकरी घोर दलदल की तरह है, जो उसको नरक में धकेल देती है। उसकी कुण्डली में पड़े बुरे ग्रह उसे इस परेशानी में फेंकते हैं। उसने पूर्व जन्म में जो पाप किए हैं वे ही उसको इस नौकरी के फन्दे में फाँसते हैं। जरूर उसने बुरे काम किये जो राजदरबारों की नौकरी का विचार अपने मन में लाता है। उसकी हालत ठीक वैसी ही होती है, जिसकी इन्द्रियाँ तो ठप हो गयी हैं, लेकिन मन में तरह-तरह के ऐशो-आराम करने की झूठी साध भरी हुई है।'

संस्कृत साहित्य में जिस प्रकार वाल्मीकि मुनि ने एक युग को जन्म दिया। जैसे कालिदास ने संस्कृत को नयी वाणी और नया रूप दिया, वैसे ही बाण ने भी संस्कृत भाषा के नाम को चमकाया। अपने युग के वे अकेले कवि थे। उन्होंने जो कुछ लिखा उसकी तुलना नहीं की जा सकती। संस्कृत साहित्य में उन्हें गद्य का पिता कहा जाता है। उनके पहले और बाद में कई लेखक हुए। उन्होंने गद्य की कई पुस्तकें भी लिखीं। लेकिन बाण ने जो गद्य लिखा वह सारे संस्कृत साहित्य की एक सुन्दर थाती है।

श्रीहर्ष और उनका युग

जीवनी और समय

संस्कृत के महाकवियों की परम्परा में महाकवि श्रीहर्ष का नाम बड़े आदर से याद किया जाता है। जहाँ तक उनकी जीवनी का सम्बन्ध है, उनके बारे में भी बहुत कम जानकारी मिलती है। अपने पिता का श्रीहीर और माता का मामल्लदेवी नाम उन्होंने खुद ही बताया है। उनके पिता अच्छे कवि और उससे भी बढ़कर दर्शन के पण्डित थे। कन्नौज के गहडवाल वंश के राजा विजयचन्द राठौर के वे राजपण्डित थे।

श्रीहर्ष के बारे में कई दन्तकथाएँ समाज में प्रचलित हैं। एक दन्तकथा में बताया जाता है कि मिथिला के विद्वान् उदयनाचार्य के साथ श्रीहर्ष के पिता का शास्त्रार्थ हुआ था। उदयनाचार्य अपने समय के सबसे बड़े विद्वानों में गिने जाते थे। इस शास्त्रार्थ में श्रीहीर हार गए थे। अपनी इस हार से उनको इतना सदमा पहुँचा कि वे अधिक दिनों तक जीवित न रह सके। मरते समय अपने पुत्र श्रीहर्ष से वे यह कहते हुए कि वह उनका बदला जरूर चुकाए।

पिता की इस अन्तिम इच्छा को पूरा करने के लिए श्रीहर्ष ने परिश्रमपूर्वक अध्ययन किया। कई तरह के शास्त्रों को पढ़ने के बाद उन्होंने सोचा कि देवी का

वरदान प्राप्त करना चाहिए। वे गंगाजी के किनारे गये। वहाँ उन्होंने 'चिन्तामणि' का जप करके देवी को खुश करना चाहा। वे तन-मन से जप में लीन हो गए। अन्ततः एक दिन देवी प्रकट हुईं। देवी ने उनको अपराजेय पण्डित होने का वरदान दिया। अपराजेय माने जिसको कोई न हरा सके।

अब श्रीहर्ष को क्या चाहिए था। वे सीधे कन्नौज के राजा विजयचन्द की राजसभा में गये। वहाँ उन्होंने अपनी कविताएँ सुनाईं। वे जब कविता सुनाते तो उनके मुख से शब्द ऐसे ही झरने लगते जैसे घनघोर मेघ बरस रहा हो। सरस्वती जैसे स्वयं ही उनके मुख में आकर बैठ गयी हैं। सुनते ही लोग ठगे से रह गये। लेकिन श्रीहर्ष को बड़ा आश्चर्य हुआ, जब उनसे लोगों ने कहा कि उनकी कविता किसी के भी पल्ले नहीं पड़ रही है। वे फिर वापस गंगातट पर आए। वहाँ उन्होंने फिर देवी को बुलाया। देवी ने उनसे कहा— 'आधीरात में शिर को भिंगोओ और दही खाओ। तब तुम्हारी कविता को लोग समझ पायेंगे। उससे तुम्हारी कठिन वाणी सरल हो जायगी।'

श्रीहर्ष ने वैसा ही किया। तब वे फिर राजा विजयचन्द के दरबार में गये। उन्होंने वहाँ अपनी कविता सुनाई। अब लोग उसको समझने लगे थे। सभी ने उसकी सराहना की।

अब उन्होंने अपने पिता को हराने वाले विद्वान् उदयनाचार्य को शास्त्रार्थ के लिए ललकारा। दोनों में भारी शास्त्रार्थ हुआ। अन्ततः उदयनाचार्य को श्रीहर्ष का लोहा मानना पड़ा। इस तरह श्रीहर्ष ने अपने पिता की अन्तिम इच्छा पूर्ण की।

यह दन्तकथा कहाँ तक सच्ची है, कहा नहीं जा सकता। लेकिन इतना जरूर कहा जा सकता है कि श्रीहर्ष ने जो विद्या-बुद्धि पायी थी वह बहुत ऊँची थी। उसका कोई मुकाबला न था।

श्रीहर्ष के बारे में एक दन्तकथा और सुनी जाती है।

इस दन्तकथा में कहा गया है कि अपने महाकाव्य की परीक्षा के लिए उन्हें काश्मीर जाना पड़ा था। उस समय काश्मीर विद्वानों का केन्द्र था। शायद तब यह भी प्रचलन था कि वही पुस्तक लोक में आदर की वस्तु समझी जायगी, जिस पर काश्मीर के विद्वानों की स्वीकृति की मुहर हो। इसके अलावा काश्मीर को सरस्वती की निवास-भूमि माना जाता था। हरेक अच्छे ग्रन्थ पर सरस्वती अपना आशीष देती थीं। लेकिन श्रीहर्ष के महाकाव्य पर सरस्वती नाराज हो गयीं। उन्होंने उसे स्वीकार नहीं किया। उसका कारण था। सरस्वती को कुमारी कहा जाता है। शास्त्रों में उन्हें 'शाश्वत कुमारी' कहा गया है। लेकिन श्रीहर्ष ने उनको विष्णु भगवान् की पत्नी लिखा था। श्रीहर्ष ने फिर सरस्वती की अनुनय-विनय की। वे मान गयीं। उस पर उन्होंने अपनी स्वीकृति दे दी।

ऐसा भी कहा जाता है कि अपने इस महाकाव्य को श्रीहर्ष ने मम्मट को दिखाया था। मम्मट काश्मीर के ही थे। वे श्रीहर्ष के मामा लगते थे। मम्मट संस्कृत के बहुत बड़े आचार्य माने जाते हैं। उनके 'काव्यप्रकाश' का बड़ा आदर है। श्रीहर्ष के महाकाव्य को देखकर मम्मट ने कहा, 'यह तो दोषों का पिटारा है। मुझे पहले मिल जाता तो काव्य के दोषों को खोजने के लिए मुझे दूसरी पुस्तकों को न देखना पड़ता।'

इस कहावत की सच्चाई पर विश्वास नहीं किया जा सकता। ऐसा मालूम होता है कि श्रीहर्ष की कविता से ईर्ष्या रखने वाले लोगों ने इस बात को उड़ा दिया। तभी से लोगों में यह बात फैल गयी। श्रीहर्ष के महाकाव्य में दोष तो हैं लेकिन इतने नहीं, जितना कि ऊपर की कहानी में कहा गया है।

ऊपर बताया गया है कि श्रीहर्ष कन्नौज के राजा विजयचन्द्र और उनके पुत्र राजा जयचन्द के राजकवि थे। ये वही जयचन्द हैं, जिन्हें 'देशद्रोही' के नाम से कहा जाता है। इनकी लड़की संयोगिता को पृथ्वीराज उड़ा कर ले गया था। राजा जयचन्द पर जो देशद्रोह तथा धोखेबाजी का कलंक लगाया गया है उनमें से बहुत-सी बातें अब झूठी साबित हो चुकी हैं। लेकिन इतनी बात जरूर है कि चरित्र का वह ऊँचा नहीं था। मरते दम तक वह अपनी सैकड़ों बाँदियों के बीच मौज में डूबा रहा। कन्नौज की ऊँची थाती को उसने गिराया।

कन्नौज के राजा विजयचन्द राठौर और जयचन्द राठौर की राजसभा में श्रीहर्ष का बड़ा आदर था। राजा जयचन्द से उनका लम्बा साथ रहा। उन्हीं की प्रेरणा से श्रीहर्ष ने अपना महाकाव्य लिखा। जब श्रीहर्ष राजसभा में आते तो राजा जयचन्द उन्हें अपने हाथों से आसन और पान के दो बीड़े दिया करते थे। जयचन्द के वे राजकवि ही नहीं, सचिव एवं सलाहकार भी थे। जयचन्द जब कन्नौज से काशी चले गये तो श्रीहर्ष भी वहीं जाकर रहने लगे। वहीं उनका अन्तकाल हुआ।

कन्नौज पर इन दोनों पिता-पुत्रों का राज्य ११५६-११९६ तक रहा है। अतः श्रीहर्ष का समय बारहवीं शती के मध्य, आज से लगभग साढ़े-आठ सौ वर्ष पहले माना जाता है।

श्रीहर्ष की जीवनी और समय के बारे में इतनी ही बातें जानने को मिलती हैं।

श्रीहर्ष की पुस्तकें

श्रीहर्ष ने कितनी पुस्तकें लिखीं, इसका ठीक-ठीक पता नहीं चलता। उन्होंने अपनी लिखी हुई आठ पुस्तकों का नाम स्वयं गिनाया है। लेकिन उनमें से दो ही मिलती हैं। उनके नाम हैं— १. खण्डनखण्डखाद्य और २. नैषधचरित।

इनमें से पहली पुस्तक दर्शन की है। उसे वेदान्तदर्शन का अच्छा ग्रन्थ माना जाता है। उनकी दूसरी पुस्तक के बारे में कुछ विस्तार से जान लेना चाहिए।

नैषधचरित

श्रीहर्ष के नाम को जिस पुस्तक ने अमर बनाया उसको 'नैषधचरित' कहा जाता है। उनकी सभी रचनाओं में इसी का सबसे बड़ा नाम है। इस महाकाव्य में बाईस सर्ग हैं। इस महाकाव्य में निषध देश के राजा नल और विदर्भ (बरार) देश के राजा भीम की पुत्री दमयन्ती की कथा कही गयी है।

भारवि और माघ की तरह श्रीहर्ष ने भी अपने महाकाव्य के लिए 'महाभारत' से कथा ली। लेकिन इस सीधी-सादी एवं नीरस कथा को उन्होंने सरस और उपयोगी बना दिया। कथा इस प्रकार कही गयी है—

एक बार राजा नल जंगल में शिकार खेल रहे थे। एकाएक उनके बाण से एक हंस घायल होकर गिर पड़ा। वह हंस एक अनोखा जीव साबित हुआ। उसने राजा नल को अपनी आपबीती सुनानी शुरू कर दी। उसने दमयन्ती नाम की एक कन्या के बारे में भी नल को बताया। उसके रूप और गुणों का बखान किया। राजा नल ने उसको छोड़ दिया। उसे दमयन्ती से अकेले में बातचीत करने के लिए भेज दिया। हंस दमयन्ती के पास गया। एक दिन ठीक मौका देखकर उसने दमयन्ती से राजा नल के गुणों और रूप का बखान किया। राजा नल के बल और प्रताप का भी वर्णन किया। यह सुनते ही दमयन्ती राजा नल से मिलने के लिए आकुल हो उठी।

इधर दमयन्ती की अनोखी सुन्दरता की बातें सुनकर देवताओं का मन भी मचल उठा। देवता भी उसको चाहने लगे। इन्द्र, वरुण, यम और अग्नि चारों ने राजा नल को अपना दूत बनाकर दमयन्ती को रिझाने के लिए महल में भेजा। देवताओं के प्रताप से उसको कोई न देख पाया। उसने दमयन्ती को देवताओं का सन्देश दिया। उनके रूप, गुण और वैभव का लोभ दिलाया। लेकिन दमयन्ती के मन में नल के प्रेम की जो लौ लगी थी उसके आगे देवताओं का सारा वैभव भी फीका पड़ गया।

अपने लिए दमयन्ती के मन में इस अथाह प्रेम को जानकर नल से न रहा गया। उसने अपना सही रूप जाहिर कर दिया। दमयन्ती को क्या चाहिए था। उसके मन की मुराद पूरी हो गयी।

उसके बाद राजा भीम अपनी पुत्री का स्वयंवर रचता है। उसमें सारे देश के राजा शामिल हुए। इन्द्र, वरुण, यम और अग्नि भी वहाँ पहुँचे। लेकिन वे अपने असली वेश में नहीं थे। उन तीनों ने नल का ही रूप धारण किया हुआ था। यह इसलिए कि दमयन्ती असली नल को न पहचान सके।

जब स्वयंवर के लिए सभी राजा कतार से बैठे तो स्वयं भगवती सरस्वती एक-एक के गुणों और वंशों का परिचय देने लगीं। दमयन्ती सुनती रही और आगे बढ़ती रही। जब असली नल की बारी आई तो भगवती सरस्वती ने उसका परिचय छिपाकर इस तरह दिया कि सुनने वाले न समझ सकें। लेकिन दमयन्ती समझ गयी। उसने असली नल के गले में वरमाला पहना दी। देवता उसकी पतिभक्ति पर खुश हुए। दोनों का विवाह हुआ। देवताओं ने दोनों को आशीशें दीं।

विवाह होने के बाद दमयन्ती के आहार-व्यवहारों की बातें बताई गयी हैं। एक गृहिणी को कैसे रहना चाहिए। इसका वर्णन किया गया है।

इसी के साथ ही कथा पूरी हो जाती है।

श्रीहर्ष की कविता

श्रीहर्ष के महाकाव्य की कथा पढ़ लेने के बाद उनकी कविता के बारे में भी दो-चार बातें जान लेनी जरूरी हैं। पहले हम उन बातों को जान लें, जो उन्होंने अपनी कविता के बारे में खुद ही कही हैं। उन्होंने लिखा है, 'मैंने जो कविता की है, वह पढ़े-लिखे लोगों के लिए है। मामूली लोग उसको अपनाएँ या न अपनाएँ, इसकी मुझे

परवाह नहीं। मुझे सन्तोष है कि पढ़े लिखे लोग मेरी कविता का पूरा रस लेते हैं।'

अगर हम श्रीहर्ष के इन विचारों की भास, कालिदास और भवभूति आदि के विचारों से तुलना करते हैं तो दोनों में हमें बहुत बड़ा अन्तर देखने को मिलता है। अन्तर इस माने में कि जहाँ कालिदास आदि ने अपनी कविता जनता के लिए लिखी, वहाँ श्रीहर्ष ने अपनी कविता कुछ इने-गिने लोगों के लिए ही लिखी।

ऐसा मालूम होता है कि कविता को अब पण्डिताई और बड़प्पन का जामा पहनाया जाने लगा था। इसलिए कवि लोग अपनी कविता को कठिन बनाने लग गये थे। उसे सीधे-सादे तरीके से नहीं, उलझा कर पेश किया जाने लगा था। उस पर ऐसी गाँठें बाँधी जाने लगी थीं, जिनको सुलझाना सबके बस की बात नहीं थी। अपनी कविता के बारे में एक जगह श्रीहर्ष ने लिखा है—

'कोई भी वह आदमी जिसे पण्डिताई का घमण्ड हो, मेरी कविता को समझने की कोशिश न करे। ऐसा करने पर उसे असफलता ही हाथ लगेगी। मैंने जान-बूझ कर उसमें गाँठे लगा दी हैं। इन गाँठों को खोलने के लिए किसी काव्य गुरु के पास जाना होगा। तभी मेरी कविता के रस को पाया जा सकता है।'

श्रीहर्ष को अपनी कविताई पर बड़ा घमण्ड था। वे अपने आपको भी कुछ कम न समझते थे। अपनी पण्डिताई के बारे में उन्होंने लिखा है— 'ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात्।' (२२-१५३)

(मुझे कन्नौज के महाराज स्वंय अपने हाथों से दो पान और आसन देते हैं। मैंने ब्रह्म का आनन्द भी पा लिया है। मेरी कविता में मिठास है। मैंने ऐसी बातें कही हैं, जिनको सुनकर मेरे विरोधी भाग खड़े होते हैं।)

अपने मुख अपनी बड़ाई उन्होंने यहाँ तक कर डाली है, 'मैं ऐसा समुद्र हूँ, जिसने अमृत आदि चौदह रत्न पैदा किये हैं। लेकिन दूसरे कवि, वे तो दो-चार दिन में सूख जाने वाली नदियों की तरह है।'

श्रीहर्ष की कविता को पढ़ कर साफ जाहिर होता है कि उनके युग में कविता की परिस्थितियाँ एकदम बदल गयी थीं। अब कविता को एक तरह का रियाज समझा जाने लगा था। उसमें तड़क-भड़क पसन्द की जाने लगी थी। अब कविता जनता के लिए न होकर कुछ खास लोगों के लिए हो गयी थी। इस तरह हमें लगता है कि श्रीहर्ष के युग में संस्कृत कविता जनता से अलग होती जा रही थी।

जैसा कि उन्होंने कहा, 'उनकी कविता का आनन्द लेने के लिए दो बातें जरूरी हैं। एक तो यह कि उनकी कविता को समझने से पहले संसार की बहुत-सी बातों को जान लेना जरूरी है। उनकी कविता को पढ़ने वाला खुद जवान होना चाहिए और उसे जवानी की बातों की जानकारी होनी चाहिए। दूसरी शर्त यह है कि वह पढ़ा-लिखा होना चाहिए और कविता के सभी पक्षों का जानकार भी।'

उनकी कविता को पढ़ने पर उनकी ये बातें सही उतरती हैं। ऐसा जान पड़ता है कि उन्होंने कविता कम और अपनी पण्डिताई अधिक बघारी है। उनकी कविता में विलासिता, रंगरेलियाँ हैं। शृंगार की अति है। उनको अनूठी बातें कहने में ज्यादा

दिलचस्पी है। वे अपनी पण्डिताई से अपने पाठकों को चौंका देना चाहते हैं।

ऐसा मालूम होता है कि कालिदास के बाद कविता में एक नया परिवर्तन आ गया था। जो असली बात कहनी होती थी उसके बारे में कम, लेकिन इधर-उधर की बातों को कहने में ज्यादा रुचि ली जाने लगी थी। श्रीहर्ष के 'नैषध-चरित' की कथा से यह बात स्पष्ट होती है। कालिदास ने हरएक बात को साफ और सीधे कहा है। लेकिन श्रीहर्ष ने अधिकतर बातों को उलझा कर और घुमाकर कहा है।

उनके महाकाव्य 'नैषधचरित' के कुछ वर्णन अवश्य ही सुन्दर हैं। खासकर जहाँ-जहाँ उन्होंने करुण रस की कविता की है। उदाहरण के लिए, हंस का प्रसंग पढ़ने लायक हैं। नल ने हंस को पकड़ लिया। नल के हाथों से छुटकारा पाने का कोई उपाय न देखकर हंस अपनी करुण कथा का बखान इन शब्दों में करता है—

मदेकपुत्रा जननी जरातुरा
नवप्रसूतिर्वरटा तपस्विनी।
गतिस्तयोरेष जनस्तमर्दय-
न्हो विधे त्वां करुणा रुणद्धि नो॥ (१-१३५)

(अपनी माँ का मैं एकलौता बेटा हूँ। मेरी माँ बूढ़ी हो चुकी है। मेरी स्त्री ने कभी-अभी पुत्र को जन्म दिया है। वह बड़ी भली और दयावान है। उन दोनों का मैं ही एकमात्र आसरा हूँ। मुझ जैसे विपदाओं से घिरे और दया के पात्र को सताते हुए, हे राजा, क्या तेरा दिल करुणा से टूक-टूक नहीं हो रहा है?)

इस महाकाव्य को पढ़ने से ऐसा जान पड़ता है कि श्रीहर्ष के समय कविता का तरीका ही बदल गया था। समाज में एक वर्ग था, जो कविता को अपनी विलास की सामग्री समझने लगा था। उस युग की सामान्य जनता से यह वर्ग अलग था। इस वर्ग में राजा, रईस, सामन्त और बड़े-बड़े ठाकुर सम्मिलित थे। राजाओं और रईसों के यहाँ विलास में डूबी हुई दासियाँ इस प्रकार की कविता सुनने की इच्छा रखती थीं। राजमहलों में बन्दी राजकुमारियाँ कविता के विनोद से अपने दिलों की प्यास को बुझाती थीं।

इस प्रकार कविता अब सामान्य जनता से अलग होकर राजाओं और रईसों के विनोद की सामग्री बन गयी थी।

श्रीहर्ष के युग में और उसके बाद लिखे गये काव्यों में यही बात देखने को मिलती है। संस्कृत की कविता को जो रास्ता श्रीहर्ष ने दिखाया, आगे के कवियों ने उसी को अपनाया। इस तरह इतिहास में श्रीहर्ष के बाद का युग संस्कृत का अपकर्ष युग कहा जाता है।

करुणा के कवि भवभूति और उनका युग

जीवनी और समय

संस्कृत-साहित्य में भवभूति का नाम अमर है। कालिदास की ही तरह भवभूति भी इस देश की जनता के सबसे प्यारे नाटककार एवं कवि रहे हैं। उनको जनता ने

इतना आदर और प्यार क्यों दिया, इसका वर्णन बाद में किया जायगा। वे कहाँ और कब पैदा हुए, पहले इसके बारे में जान लेना चाहिए।

अपनी पुस्तकों में भवभूति ने कुछ बातें अपने बारे में कहीं हैं। उनसे मालूम होता है कि वे विदर्भ के पद्मपुर नामक स्थान में पैदा हुए थे। आजकल जिसे बरार कहा जाता है, उसे ही पहले विदर्भ कहा जाता था। भवभूति उडुम्बर ब्राह्मण थे। पद्मपुर के पास महाराष्ट्रीय ब्राह्मणों के कुछ घर आज भी हैं। वे अपने को भवभूति के वंशज बताते हैं। उन्होंने लिखा है कि उनके पुरखे वेदों को जानने वाले और धर्म-कर्म के मानने वाले थे। उनके पिता का नाम नीलकण्ठ और उनकी माता का नाम जतुकर्णी था। उनके पितामह या बाबा का नाम गोपाल भट्ट था। उनके पाँचवें पुरखे का नाम महाकवि था।

अपने गुरु का नाम उन्होंने ज्ञाननिधि बताया है। कुमारिलभट्ट का ही दूसरा नाम ज्ञाननिधि था। कुमारिलभट्ट मीमांसा दर्शन के जाने-माने विद्वान् थे। संस्कृत साहित्य में उनका बहुत बड़ा नाम है।

भवभूति के बचपन का नाम श्रीकण्ठ था। भवभूति नाम उनको बाद में दिया गया। उनकी कविता पर मोहित होकर काव्य-प्रेमियों ने उनको यह नाम दिया। उनका एक नाम उम्बेक भी है। यह नाम उनको उनके गुरु ज्ञाननिधि ने दिया था।

इस तरह उनके इन तीनों नामों में उनके जीवन के तीन अध्याय छिपे हैं। श्रीकण्ठ भट्ट माता-पिता द्वारा दी गयी उनकी बचपन की यादगार हैं। भवभूति उनके कवि की सौगात हैं, जब वे जवान थे। उम्बेक उनके बुढ़ापे के दिनों की सुधि है, जब वे कविता को छोड़कर दर्शन के गहन विषयों पर विचार कर रहे थे।

उनकी पुस्तकों से हमें यह भी मालूम होता है कि वे शिव के भक्त थे। उनके नाटक उज्जैन में भगवान् कालप्रियनाथ (शिव) के सामने खेले गए थे। उनकी शिवभक्ति के कारण ही ऐसा हुआ था। कालप्रिय को कुछ विद्वान् कालयी का सूर्यमन्दिर भी मानते हैं।

अपने बारे में उन्होंने इतनी ही बातें बतायी हैं। इनके अलावा कुछ बातें उनके नाटकों को पढ़कर भी मालूम होती हैं। उनकी चर्चा आगे उनकी कविता में की गयी है।

वे कब हुए और उनका जीवन कैसे बीता, इस सम्बन्ध में उन्होंने कुछ नहीं लिखा। इस बारे में कल्हण पण्डित ने एक बात कही है। कल्हण संस्कृत के सबसे बड़े इतिहास-लेखक हुए। उनके इतिहास का नाम है 'राजतरंगिणी'। अपनी 'राजतरंगिणी' में उन्होंने लिखा है 'कन्नौज के राजा यशोवर्मा के यहाँ दो कवि रहा करते थे। उनके नाम थे—भवभूति और वाक्पतिराज।' कल्हण ने आगे लिखा है कि काश्मीर के राजा ललितादित्य मुक्तापीड और कन्नौज के राजा यशोवर्मा में लड़ाई हुई थी। उसमें यशोवर्मा हार गया था।

इस आधार पर हम भवभूति के समय को निकाल सकते हैं। कन्नौज पर राजा यशोवर्मा ने ७३३ ईसवी तक राज्य किया। इसलिए भवभूति को सातवीं शती के अन्त में या आठवीं शती के शुरू में माना जा सकता है। आज से लगभग बारह सौ या साढ़े बारह सौ वर्ष पहले।

भवभूति की रचनाएँ

भवभूति का नाम जिन पुस्तकों से अमर है उनकी संख्या तीन है। वे तीनों नाटक हैं। उनके नाम हैं— १. मालती-माधव, २. महावीर-चरित और ३.उत्तर रामचरित। इसी क्रम से तीनों नाटकों की कथा नीचे दी जा रही है।

मालती माधव

'मालती माधव' भवभूति का पहला नाटक है। इसमें दस अंक हैं। इस नाटक में भवभूति ने मालती और माधव की प्रेमकथा कही है। यह कथा उन्होंने लोक से ली। लेकिन उसको अपने तरीके से समाज के आगे नये रूप में पेश किया है। कथा इस प्रकार है।

भूरिवसु और देवरात नाम के दो मित्र थे। बचपन में वे दोनों एकसाथ पढ़ा करते थे। एक दिन मजाक ही मजाक में वे गहरी प्रतिज्ञा कर बैठे। उन्होंने एक-दूसरे को वचन दिया कि उनके जो पहले लड़की-लड़के होंगे उनका वे आपस में विवाह कर देंगे।

दोनों की पढ़ाई पूरी हुई। दोनों गुरुभाई अपने-अपने घरों को चले गये। कुछ समय बाद दोनों के विवाह हुए। दोनों ने अपना-अपना घर सँभाला। कुछ वर्ष बीतने पर दोनों के घर दो सन्तानों ने जन्म लिया। भूरिवसु के यहाँ कन्या पैदा हुई। देवरात के यहाँ पुत्र। दोनों मित्रों की मुरादें पूरी हुईं। अनजाने में की गयी प्रतिज्ञा उन्हें सफल होती दिखाई दी। कन्या का नाम रखा गया मालती और लड़के का माधव।

मालती और माधव दोनों ने रूप भी खूब पाया। हर देखने वालों की नजरें एक बार उन पर टिक जाती थीं। बालक से वे दोनों जवान हुए। उनका ब्याह होने ही वाला था कि बीच में एक दुर्घटना घटी।

मालती का पिता भूरिवसु पद्मावती के राजा का महामन्त्री था। उसी राजा का एक मन्त्री और था। उसका नाम था नन्दन। नाते में वह राजा का साला लगता था। नन्दन बड़ा चालाक था। अपनी चापलूसी से राजा को वह खुश किये रहता था। राजा भी उसकी बातों को सुनता और मानता था। महामन्त्री भूरिवसु की जवान और सुन्दर कन्या मालती पर उसकी आँखे लगी हुई थीं।

एक दिन अच्छा मौका देखकर राजा से उसने अपनी मन की बात बतायी। राजा ने वही बात भूरिवसु से कही। भूरिवसु के सामने कठिन समस्या पैदा हो गयी। अब उसके सामने दो बातें थीं। एक तो अपनी प्रतिज्ञा की और दूसरी अपनी नौकरी की। ऐसे संकट के समय कामन्दकी ने उसकी मदद की।

कामंन्दकी एक पढ़ी-लिखी चतुर स्त्री थी। उसने बौद्धधर्म अपना लिया था। वह भिक्षुणी का जीवन बिता रही थी। वह भी बचपन में उसी गुरु के यहाँ पढ़ी थी जहाँ कि देवरात और भूरिवसु ने पढ़ा था। इसलिए भूरिवसु की वह गुरु-बहन थी। उससे पहले की काफी जान-पहचान थी। गुरु की पाठशाला में की गयी भूरिवसु और देवरात की प्रतिज्ञा की बात को वह जानती थी। उसने इस काम को अपने जिम्मे लिया।

इस तरह मालती और माधव की यह कहानी टूटते-फूटते बच गयी। उसने नया मोड़ लिया।

इधर मालती और माधव के बारे में भी कुछ जान लेना जरूरी है। इन दोनों को यह बात मालूम न थी कि उनके पिताओं ने उनके जन्म से पहले ही उनके बारे में यह फैसला कर दिया था। इसलिए वे दोनों एक-दूसरे से अनजान थे।

भिक्षुणी कामन्दकी ने सबसे पहले एक-दूसरे की पहचान करानी चाही। साथ ही उनसे उनके विवाह की बात भी बतानी चाही। उसने मालती और माधव के पास अपनी एक दासी भेजी और उनको असल बात बता दी। अब तो मालती हर समय माधव को देखने के लिए बेचैन रहने लगी। माधव की भी यही हालत हो गयी।

अब कामन्दकी का रास्ता साफ था। उसको काम बनाने का पूरा विश्वास हो गया था। वह सोच रही थी कि अब दोनों को कैसे मिलाया जाय। उसने इस समस्या का भी हल ढूँढ़ लिया। पास ही के गाँव में देवता का एक मन्दिर था। ग्रामदेवता के उस मन्दिर में कामन्दकी ने माधव को पहले ही छिपाकर रख दिया था। माधव को उसने कुछ बातें भी समझा दी थीं।

इधर मालती को फुसला कर वह देवी के दर्शन के लिए उसी मन्दिर में ले गयी। उसके साथ उसकी सखी लवंगिका भी थी। मन्दिर की एकान्त जगह देख मालती ने अपनी सखी से अपने मन की सारी बातें उगल दीं। वह माधव के वियोग में रोने लगी। उसको रोती छोड़ लवंगिका चुपके से वहाँ से खिसक गयी। उसने इशारा किया। माधव उस जगह आकर चुपके से बैठ गया। सखी को पास ही बैठे जान वियोग में भूली मालती उसके गले से लिपट गयी। उसी बेसुधी में उसे अपने मन का हाल भी कह सुनाया। उसी हालत में उसने अपने गले की माला उतारी और प्यार में अपनी सखी के गले में पहना दी।

इतना हो जाने के बाद मालती को कुछ सुध आई। उसने आँखे खोलीं तो अपने सामने माधव को बैठा पाया। वह बहुत शर्माई। इतने में ही कामन्दकी भी वहाँ आ गयी। उसने दोनों को एक-दूसरे के बारे में बताया। उसके बाद वह दोनों को चुपचाप अपने मठ में ले गयी। वहाँ उसने दोनों का विवाह करा दिया। फिर वह मालती को दुलहन के रूप में सुन्दर सजाकर माधव के घर छोड़ आई।

असली कहानी इतनी ही है। लेकिन अभी एक मजेदार बात और है। वह बात है नन्दन की।

नन्दन की एक बहन थी। उसका नाम था मदयन्तिका। वह मकरन्द को चाहती थी। मकरन्द माधव का घनिष्ठ मित्र था।

इस बात को यही छोड़कर हम कहानी के उस भाग को पकड़ते हैं, जहाँ पर राजा ने नन्दन का विवाह मालती के साथ तय करने के लिए भूरिवसु को राजी कर लिया था। विवाह का दिन तय हो गया। उस दिन पर दोनों का विवाह हो भी गया अपनी नई-नवेली दुलहिन को लेकर नन्दन अपने घर चला गया।

घर में आई अपनी भाभी को देखने के लिए नन्दन की बहन मदयन्तिका उसके पास आई। उसने दुलहन का घूँघट उठाया। घूँघट के भीतर उसने जो देखा उससे वह अवाक् रह गई। वह तो मकरन्द था जिसे वह चाहती थी, जिससे मिलने के लिए वह आतुर थी। यह काम किया था कामन्दकी की ने।

'अन्धे, तुझको क्या चाहिए'— दोनों प्रेमियों को मनचाही मुराद मिल गई। दोनों जल्दी ही वहाँ से भाग निकले। उन्होंने भी विवाह कर लिया। बीच में मारा गया बेचारा नन्दन।

इस तरह 'मालती माधव' की कहानी के सभी छोर एक जगह आकर मिल गये। यहीं पर कहानी पूरी हो जाती है।

महावीरचरित

'महावीर चरित' भवभूति का दूसरा नाटक है। उसमें सात अंक हैं। इस नाटक में राम की वीरता की कहानी है। राम का विवाह, राम का वनवास, सीता का हरण और राम का राज्याभिषेक—रामायण की कथा का आधा हिस्सा। यही इस नाटक की कथा है। कथा इस प्रकार कही गयी है—

विश्वामित्र नाम के एक ऋषि थे। उन्होंने एक बड़ा यज्ञ किया। लेकिन जंगल में राक्षसों के कारण यज्ञ में बाधा न आवे, इस बात पर उनका ध्यान गया। वे यज्ञ की देख-रेख के लिए महाराज दशरथ से राम-लक्ष्मण को माँगने अयोध्या गये। ऋषि का आदेश था। राजा का भी धर्म था। महाराज दशरथ मन मारे रह गये। अपने सुकुमार दोनों बालकों को उन्हें देना ही पड़ा। विश्वामित्र उनको साथ लेकर लौट आये।

यज्ञ क्या था, जंगल में मंगल था। एक-से-एक बढ़कर विद्वान्, बड़े-बड़े ऋषि-मुनि और तमाम राजा लोग उसमें सम्मिलित होने आए थे। जनकपुरी से भी महाराज कुशध्वज आये थे। वे जनक महाराज के छोटे भाई थे। वे सीता और उर्मिला को भी साथ लाये थे। वहीं उन दोनों बहनों ने पहले-पंहल राम और लक्ष्मण को देखा।

रावण को इन सारी बातों का पहले ही से पता था। इसी बीच रावण का एक दूत विश्वामित्र मुनि के आश्रम में आया। लंका के राजा रावण ने उसको सीता की मँगनी का सन्देश देकर भेजा था। दूत अपनी बात बता ही रहा था कि एक भारी चिंघाड़ से सारा आश्रम काँप उठा। वह चिंघाड़ ताड़का की थी।

वह विकराल रूप बनाये, आकाश से आँधी की तरह आश्रम पर टूट पड़ी। यज्ञ में किसी प्रकार बाधा न हो, ऋषि विश्वमित्र ने राम को इशारा किया। राम ने उसको मार गिराया।

उसके बाद राम ने शिव का धनुष तोड़ा। राम की वीरता की पूरी परीक्षा हो गयी। वहीं पर राम से सीता का विवाह हो गया।

आश्रम की ये सारी बातें रावण के दूत ने जाकर रावण को बतायीं।

रावण का एक मन्त्री था—माल्यवान। वह बड़ा चतुर था। उसने राम के विरुद्ध परशुराम को उकसाया। परशुराम बड़े क्रोधी ब्राह्मण थे। क्षत्रियों से तो उनका बड़ा वैर

था। उन्होंने इक्कीस बार क्षत्रियों का नाश किया था। वह आगवबूला होकर मिथिला गये। वहाँ राम के साथ उनका विवाद हुआ और वह अपनी पराजय स्वीकार कर लौट गये।

तब मन्त्री माल्यवान ने दूसरी चाल चली। उसकी एक बहन थी—शूर्पणखा। माल्यवान, ने उसको रानी कैकेई की नौकरानी मन्थरा की जाली पोशाक पहनाई, जिससे वह मन्थरा जैसी ही दीखने लगी। कैकेकी महाराज दशरथ की रानी थी। उनकी दो रानियाँ और थीं—कौशल्या और सुमित्रा। मन्थरा के वेश में शूर्पणखा राम के पास गयी। राम को उसने एक पत्र दिया। पत्र कैकेई की ओर से लिखा गया था। उसमें बहुत बुरी खबर थी। उसमें लिखा था, 'महाराज की रजामन्दी से राम को चौदह बरस का वनवास और भरत को राजगद्दी।' बहुत पहले जब अकेले में राक्षसों की सेना ने महाराज दशरथ पर धावा बोल दिया था तब मदद करने के बदले दशरथ महाराज ने कैकेई को दो वर दिये थे। इन्हीं दो वरों की बात इस पत्र में लिखी हुई थी।

राम ने माता कैकेई का पत्र पढ़ा। माता की आज्ञा थी, पिता की स्वीकृति थी। उसको टालने की बात ही नहीं उठती। वे वनवास की तैयारी में लगे। सीता और लक्ष्मण ने भी साथ चलने की हठ ठान ली। उन दोनों को साथ लेकर राम चौदह बरस के वनवास को चल दिये।

माल्यवान की चाल सफल हो गयी। लेकिन अभी भी रावण के मन की मुराद पूरी नहीं हुई थी। राक्षसों के द्वारा वह राम को वन में अनेक कष्ट देता रहा। राजा रावण ने एक दिन छल करके अकेली सीता का हरण भी कर लिया। जब राम-लक्ष्मण वापस आए तो सीताजी को कुटिया में न पाकर दोनों भाई दुःखी हुए।

रावण ने सीता को ले जाकर अपनी अशोक वाटिका में रखा। सीताजी पहले ही दुःखी थीं। रावण उनको तरह-तरह की दूसरी यातनाएँ देने लगा। रावण की स्त्री मन्दोदरी ने उसे बहुत समझाया। लेकिन उसने एक न सुनी। इस मामले को लेकर अपने भाई विभीषण को भी उसने घर से निकाल दिया।

लेकिन अधर्म, अत्याचार की भी एक सीमा होती है। एक न एक दिन उसका फल जरूर मिलता है। इसी बीच रावण की सोने की लंका में आग की लपटें धधकने लगीं। यह बदला लिया हनुमान ने। हनुमान बड़े वीर थे। वायु देवता उनके पिता और अंजनी उनकी माता थी।

रावण की लंका आग की लपटों में धधक रही थी। इतने में राम भी वहाँ आ पहुँचे। उनके साथ बन्दरों की भारी सेना भी थी।

राम-रावण की घमासान लड़ाई हुई। रावण मारा गया। इस लड़ाई में वानरों की सेना ने राम की बड़ी मदद की। रावण के मारे जाने से लंका की राजगद्दी खाली हो गयी। उस पर राम ने रावण के भाई विभीषण को बैठा दिया।

इस बीच वनवास के चौदह बरस बीत चले थे। राम, लक्ष्मण और सीता सहित अयोध्या लौट आये। वहाँ जनता ने अपने प्यारे राजा का बड़ा स्वागत किया। कुछ दिन बाद उन्हें अयोध्या की राजगद्दी पर बैठा दिया गया।

'महावीरचरित' की यही कहानी है।

उत्तररामचरित

'उत्तररामचरित' भवभूति का तीसरा नाटक है। इसमें सात अंक हैं। इसमें राम के जीवन की आगे की कहानी कही गयी है।

राम के राजगद्दी पर बैठने के कुछ दिन बाद ऋषि ऋष्यशृंग ने बारह वर्ष का एक यज्ञ किया। उसमें शामिल होने के लिए राम की तीनों माताएँ वशिष्ठ ऋषि के साथ चली गयीं। इधर राज्याभिषेक के लिए आये महाराज जनक भी अपनी राजधानी को लौट आये।

पिता के विछोह से सीताजी का मन उदास हो उठा। उनके बहलाव के लिए राम ने अपने वनवासी जीवन के चित्र दिखाये। अपने पूरे चौदह वर्ष के वनवास की कहानी को राम ने चित्रों में तैयार करवाया था। इन चित्रों को देखकर सीताजी को पुरानी बातें याद हो आयीं। गंगाजी का चित्र देखते ही उनकी इच्छा उसमें नहाने की हुई। उन्होंने राम से कहा। राम ने उनकी बात मान ली। दूसरे दिन लक्ष्मण के साथ सीता का वन जाना तय हो गया। उसके बाद सीताजी चैन से सो गयीं।

लेकिन इसी बीच एक अनहोनी घटना घटी। राम का एक दूत उनके पास आया। राम ने ही उसको अपनी प्रजा का समाचार जानने के लिए भेजा था। वह दूत बुरा समाचार लेकर लौटा था। प्रजा को सीता पर शक था। वह रावण के घर रह आयी है। प्रजा का कहना था कि सीता राजरानी होने के योग्य नहीं है। इस बुरी खबर को लाने वाले दूत का नाम था दुर्मुख। दुर्मुख, याने कुबोल बोलने वाला।

राम ने सुना तो जैसे उन पर वज्र गिर पड़ा। वे बेहोश हो गए। सीता के पवित्र जीवन को उन्होंने नजदीक से देखा था। उसे भली-भाँति परखा था। वे जानते थे कि रावण के घर से लाने के बाद उन्होंने सीता की अग्नि-परीक्षा ली थी। लेकिन आज उनकी इस बात पर कौन यकीन करे? वे इसका सबूत कैसे पेश करें?

राम के सामने अपने इक्ष्वाकु वंश का ऊँचा आदर्श मौजुद था। उनके वंश की यह पुरानी रीति रही है— प्रजा की शिक्षा, प्रजा की रक्षा और प्रजा की सेवा। प्राणों को जोखिम में डाल कर उन्होंने अपनी इस जिम्मेदारी को निभाया था। राम जानते थे कि उनकी सीता पवित्र है। उनको यह भी मालूम था कि वह माँ बनने वाली है। माता धरती और अग्नि देवता सीता के पवित्र जीवन के संबूत मौजूद थे। लेकिन प्रजा में फैली हुई इस अफवाह को वे अपने मुख से कैसे दूर करें?

अपना सबकुछ भूल कर प्रजा की इच्छा को पूरा करने की बात उनके सामने थी। वे सीता को बहुत मानते थे लेकिन प्रजा के राजा भी थे। इसलिए राजा राम को अपनी प्रजा की बात रखनी पड़ी थी। अपना कर्त्तव्य-पालन करना था। भवभूति ने उनके मुख से यह बात कहलाई भी है—

'लोक की खुशी के लिए, प्रजा के सन्तोष के लिए मैं सभी कुछ कर सकता हूँ। और बातों की तो गिनती ही क्या। अगर सीता भी मुझे छोड़नी पड़ी तो मैं वह भी करूँगा।' उन्हें क्या पता था कि एक दिन यह परीक्षा की घड़ी उनके सामने आयेगी।

सुबह हुई। सीता को लेकर लक्ष्मण वन की ओर चल पड़े। सीता को गंगाजी में नहाने की खुशी। लेकिन लक्ष्मण के मन में वेदना, दुःख का अम्बार। अपनी निर्दोष भाभी, जो कि माँ बनने वाली थी, लक्ष्मण उनको असहाय, बेघर-बार जंगल में छोड़ आये। सीता को यह बात लग गयी। अपने पति की इस निर्दयता को वे सहन न कर सकीं। वे गंगाजी में कूद पड़ीं। गंगाजी ने पवित्र सीता को अपनी गोद में ले लिया।

वहीं सीता ने दो पुत्रों को जन्म दिया। धरती ने उसकी माता का धर्म निभाया। गंगाजी ने उसके पुत्रों की रक्षा की। वन देवियाँ उसकी सखी बनीं। पुत्रों के पैदा होने के साथ ही सीता के अच्छे दिन फिर लौट आये।

गंगाजी उन दो बालकों सहित सीताजी को वाल्मीकि मुनि के आश्रम की ओर ले गयीं। महामुनि ने देखा कि 'एक अजीब नारी उनकी ओर चली आ रही है। ऐसी अजीब नारी जो सरस्वती की तरह सुन्दर, पीली सरसों के फूलों जैसी, दुबली-पतली, शरद ऋतु की धूप से मुरझाई केतकी की कली के समान, वेदना और करुणा की मूर्ति।'

इस नारी-मूर्ति को देखकर वाल्मीकि ऋषि का मन भर आया। उन्होंने सीता को सहारा दिया। उसे आशीषें दीं। उसकी कहानी पूछी। उसका और उसके पुत्रों का भार अपने ऊपर लिया। वाल्मीकि मुनि ने दोनों बालकों का नाम रखा लव और कुश। उन्होंने ही दोनों बालकों को पढ़ाना-लिखाना शुरु किया।

कुछ समय बाद अयोध्या में राजा राम ने अश्वमेध यज्ञ रचा। उसमें एक घोड़ा छोड़ा गया। उस घोड़े की रखवाली का काम लक्ष्मण के पुत्र चन्द्रकेतु को सौपा गया। उसके साथ बड़ी भारी सेना भी लगा दी गयी।

ठीक इसी समय ऋषि ऋष्यश्रृंग आश्रम से राम की तीनों माताएँ और जनक महाराज भी वाल्मीकि मुनि के आश्रम में आये। उन्हें सीता और लव-कुश के बारे में कुछ पता नहीं था। लव-कुश के बारे में उनकी बातें हो ही रही थीं कि आश्रम में एकाएक कोलाहल मच गया। राम के अश्वमेध यज्ञ का जो घोड़ा था उसको लव ने पकड़ लिया था। चन्द्रकेतु घोड़े को छोड़ देने के लिए कह रहा था। लेकिन लव उसको देने के लिए तैयार न था। दोनों में लड़ाई ठन गयी।

दोनों के बीच घमासान लड़ाई हुई। एक ओर से आग उगलने वाले अस्त्र छोड़े जा रहे थे तो दूसरी ओर से पानी बरसाने वाले अस्त्रों का प्रयोग हो रहा था। इस घमासान लड़ाई की सूचना राम को मिली। वे भागे-भागे वहाँ आये। उन्होंने पहले लव को और फिर कुश को गले लगाया। लेकिन अभी तक उन्हें मालूम नहीं था कि वे किसके लड़के हैं।

भवभूति के इस नाटक के अन्तिम सातवें अंक में ऊपर कही गयी सारी कथा एक नाटक में खेली जाती है। यह नाटक गंगाजी के तट पर खेला जाता है। उसको देखने के लिए सब लोग इकट्ठे होते हैं। नाटक में सीता की असली कहानी को देखकर सब लोग उसको सिर झुकाते हैं। उसकी पवित्रता की प्रशंसा करते हैं। ऋषि ऊपर से फूल बरसाते हैं। वाल्मीकि मुनि लव-कुश का परिचय देते हैं। दोनों बालकों को राम और दूसरे लोगों से मिलाते हैं। इस तरह भवभूति के इस 'उत्तररामचरित' की कथा हँसी-खुशी में जाकर पूरी होती है।

भवभूति की कविता

भवभूति के नाटकों को पढ़कर उनकी कविता के बारे में कई बातें हमारे सामने आती हैं। पहली बात तो यह कि प्रकृति से उन्हें बड़ा प्यार था। गोदावरी नदी के तट का उन्होंने बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। उन्होंने लिखा है कि वहाँ के पेड़-पौधे, पशु-पक्षी राम के संगी-साथी हो गये थे, जहाँ कि राम ने अपने वनवास के दिन बिताये थे। उस पंचवटी से तो हमें आज भी प्यार है।

और वाल्मीकि ऋषि का मेहमानों से सदाबहार रहने वाला वह आश्रम। जहाँ एक ओर तो हाल ही में ब्याही मृगीभात का ताजा-ताजा माँड पी रही है। घी से सने भात की महक, छौंके गये बेर के फलों की तरकारी से महकता हुआ वह तपोवन उसको देखने के लिए मन मचल उठाता है।

संस्कृत में भवभूति को करुणा का कवि कहा जाता है। उनकी कविता को सुनकर मनुष्यों की तो बात ही क्या, पत्थरों के भी आँसू बहने लगे, वज्र का दिल तक टूक-टूक हो गया।

भवभूति को यह करुणा आदिकवि वाल्मीकि से मिली थी। वाल्मीकि मुनि ने राम की कहानी लिखी। लेकिन राम के जीवन के उस मर्म भाग को वाल्मीकि मुनि ने भी खोलकर नहीं लिखा जिसे भवभूति ने लिखा। राम के जीवन का वह मर्म अंश था करुणा और विछोह से भरा हुआ।

वह दुखिया सीता! हरसिंगार के फूल-सी सुन्दर जूही की कली जैसी कोमल, जिसके लिए जंगल के पशु-पक्षी रोये। पेड़-पौधों ने आँसू बहाए। यहाँ तक कि स्वयं कवि तक रो पड़े। संसार की बुराइयों और झंझटों से दूर रहने वाले वाल्मीकि ऋषि की भी आँखे भर आईं।

भवभूति की कविता की एक विशेषता और है। वे कविता में अपने किसी भी पात्र का चित्र उतारना खूब जानते थे। उनकी कविता को पढ़कर उनके पात्रों के स्वरूप हमारे सामने नाचने लगते हैं। सीता के करुण रूप का चित्र खींचते हुए उन्होंने लिखा है

करुणस्य मूर्तिरथवा शरीरिणी,
विरहव्यथेव वनमेति जानकी। (उ० ३-४)

(वह करुणा की जीती-जागती तस्वीर हो, या दुःख अथवा वेदना ने खुद ही रूप धारण कर लिया हो।)

बेचारे बूढ़े जनक! लड़की के शोक ने जिनका मन वेध दिया था, सूखे पेड़ की तरह हड्डियों का ढाँचा लिये हुए दुःख की मूर्ति बन गये। एक तो कठिन तप से कृश शरीर, उस पर भी बुढ़ापा और फिर इस दशा में सन्तान का शोक! ऐसा शोक, जिसने आँखों के आँसुओं तक को सुखा दिया।

और राम!

उनकी हालत तो और भी बदतर थी। दिल के अधपके फोड़े को जैसे किसी अनाड़ी ने बड़ी बेरहमी से कुरेद दिया हो, सीता के विछोह में राम इसी प्रकार

तिलमिला गये। जैसे किसी हरे-भरे वन के पेड़-पौधे, घास-पात जल कर राख हो गये, राम का जीवन सीता के बिना वैसा ही सूना हो गया।

भवभूति ने राम के बारे में एक जगह लिखा है—

दलति हृदयं शोकोद्वेगाद्द्विधा तु न भिद्यते
वहति विकलः कायो मोहं न मुञ्चति चेतनाम्।
ज्वलयति तनूमन्तर्दाहः करोति न भस्मसात्
प्रहरति विधिर्मर्मच्छेदी कृन्तति जीवितम्॥ (उ० ३-३१)

(सीता के शोक में राम का दिल फट जाना चाहता है, फिर भी उसके दो टुकड़े नहीं हो पाते। व्याकुल शरीर बेहोश हो रहा है, लेकिन प्राण नहीं निकल पाते। सीता के विछोह की जो आग दिल में धधक रही है वह शरीर को जलाती तो है, लेकिन एकदम राख नहीं कर देती। वह निर्दयी विधाता राम के मर्म पर चोट तो कर रहा है, लेकिन उनके जीवन का अन्त नहीं कर पाता।)

भवभूति की कविता में कुछ बातें ऐसी भी हैं, जिनका हमारे जीवन से गहरा सम्बन्ध है। ये बातें हमारे लिए बड़ी उपयोगी हैं। उन्होंने एक जगह लिखा है—

'कोई भी आदमी उम्र से बड़ा नहीं होता। उसकी अच्छाइयाँ और बुराइयाँ उसको बड़ा और छोटा बनाती हैं। ये जात-पाँत की बातें तो बाद की हैं। उनके कारण न तो कोई ऊँचा है और न नीचा। बड़ा और ऊँचा वही है, जिसके विचार अच्छे हैं, जिसमें गुणों का निवास है।'

उन्होंने लिखा है, 'हमेशा सबके साथ अच्छा बरताव करना चाहिए। बुरे लोगों की बातों पर ध्यान नहीं देना चाहिए। बुरे लोगों की तो यह आदत ही है कि वे अच्छी बातों में भी बुराई निकाल कर रख देते हैं।'

'मनुष्य को अच्छा साथ बड़े भाग्य से मिलता है। अच्छे लोगों की हर जगह इज्जत होती है। उम्र में भले ही वे छोटे हों, इससे क्या होता है। जो लोग अपने से बड़े हैं उनका उपहास नहीं करना चाहिए। बूढ़े लोग तीर्थों की तरह पवित्र होते हैं।

इस तरह भवभूति की कही हुई ये बातें अमृत की घूँटें हैं। जीवन को अमर बनाने के लिए उनको व्यवहार में लाना चाहिए।

भवभूति की कविता के बारे में उन्हीं के मुख से कुछ बातें जानने को मिलती हैं।

ऐसा मालूम होता है पहले-पहले उन्हें अपनी कविता के लिए निराश होना पड़ा था। समाज ने उनके नाटकों को नहीं अपनाया, उनका आदर-सम्मान नहीं किया, बल्कि कुछ लोगों ने तो उनकी कविता की खिल्ली तक उड़ाई। अपने 'उत्तररामचरित' में इसीलिए उन्हें लिखना पड़ा, 'लोगों की बदनामी से बचना कठिन है। कुछ छोटे लोगों की तो यह आदत ही हो गयी है। अच्छी चीज में भी वे दोष निकाल कर रख देते हैं।'

समाज के इन चुगलखोरों को सुनाने के लिए उनको अपने 'मालतीमाधव' नाटक में कहना पड़ा, 'मेरा यह नाटक उन मूर्खों के लिए नहीं है, जो मेरी खिल्ली उड़ाते हैं। समय अनन्त है और धरती असीमित। कभी न कभी, किसी न किसी जगह

मेरी तरह कोई पैदा होगा। वह अवश्य ही मेरी कविता का मूल्य आँकेगा।'

उनके नाटकों से हमें एक बात और जानने को मिलती है। ऐसा मालूम होता है कि भवभूति का नटों से बड़ा हेलमेल था। नाटक मण्डलियों से भी उनका परिचय था। कुछ असम्भव नहीं कि इस तरह की नाटक मण्डलियों में उन्होंने खुद भी हिस्सा लिया हो। यह इसलिए भी सम्भव जान पड़ता है कि उन्होंने अपने नाटक रंगमंच या स्टेज पर खेलने के लिए लिखे थे। उज्जैन के महाकाल महादेव के उत्सव पर उनके नाटकों को खेला भी गया था। यह बात उन्होने स्वयं ही बतायी है।

जब तक भवभूति नये थे तब तक उनके नाटकों को समाज ने भले ही न अपनाया हो। कुछ ओछे लोगों ने उनकी खिल्ली भी उड़ाई हो। लेकिन बाद में उनकी पुस्तकों को खूब अपनाया और सराहा गया।

भवभूति ने अपने बारे में जो कुछ कहा वह बहुत कम है। उनके नाटकों को पढ़कर उनके बारे में जो थोड़ी-सी बातें मालूम होती हैं उनकी भी चर्चा की जा चुकी है। इसके अलावा उनके बाद के कवियों ने उनकी जो प्रशंसा की है वह भी पढ़ने लायक है। उससे भवभूति की कविता की कई बातें सामने आती हैं। भवभूति की महानताओं का पता चलता है। साहित्य में उनको कितना आदर-सम्मान दिया गया इसकी जानकारी होती है।

संस्कृत के एक वहुत बड़े कवि और आचार्य हुए हैं राजशेखर। उन्होंने लिखा है, 'सबसे पहले इस धरती पर वाल्मीकि कवि हुए। उनका अवतार भतृमेण्ठ हुआ। भर्तृमेण्ठ ने ही फिर भवभूति के रूप में जन्म लिया। वही भवभूति अब मैं पैदा हुआ हूँ।'

वाक्पतिराज नाम से एक दूसरे कवि हुए। इन्हें भवभूति का शिष्य या साथी बताया जाता है। उन्होंने भवबूति की प्रशंसा करते हुए लिखा है—

भवभूति जलनिधिनिर्गतकाव्यामृतरसकणा इव स्फुरन्ति।
यस्य विशेषा अद्यापि विकटेषु कथानिवोशेषु॥

(गउडवहो, पद्य सं० ७९९ संस्कृतानुवाद)

(वह कवि धन्य हुआ। उसकी कविता को तो समुद्र कहना चाहिए, जिसके काव्यरूपी समुद्र में कवितारूपी कण आज भी तैर रहे हैं।)

धनपाल नाम का एक कवि हुआ दसवीं शती में । उसने 'तिलकमंजरी' में लिखा है कि 'भवभूति कोई ऐसे-वैसे नाटककार नहीं थे। उनकी जिह्वा पर तो जैसे सरस्वती आकर बैठ गयी थीं। वही सरस्वती उनके नाटकों में उतरी हैं।' इसी तरह अपनी 'आर्यासप्तशती' में गोवर्द्धनाचार्य ने लिखा है, 'भवभूति की वाणी तो हिमालय की पुत्री पार्वती है। भला ऐसा न हुआ होता तो वह पत्थरों तक को कैसे रुला देती? और सोड्ढल्ल नाम के एक कवि ने अपनी 'उदयसुन्दरी कथा' में लिखा है कि, 'भवभूति धन्य हैं। उनके आगे दूसरों की कविता ठहरने ही नहीं पाती। भला ऐसा क्यों न हो, सरस्वती उनके बस में जो हो गयी थीं।

ये बातें हमें बताती हैं कि भवभूति की कविता को बड़ा लोक-सम्मान प्राप्त हुआ।

भवभूति को कविता सिद्ध हो चुकी थी। सरस्वती उनके कण्ठ में आकर बैठ गयी थीं। इसलिए उन्होंने जो कुछ लिखा वह सुन्दर ही सुन्दर था। जो कवि महान् होते हैं, अमर होते हैं, जिनकी कविता हर एक युग के लोगों को प्रेरणा देती है, भवभूति उन्हीं में से थे। 'उत्तररामचरित' में उन्होंने एक जगह लिखा है, 'महान् कवि कविता करने के लिए समय नहीं देखते। उन्हें पहले से सोचना-विचारना नहीं पड़ता। उनके मुख से जो निकल गया वही सुन्दर कविता हो जाती है। सबको भाने लगती है। अर्थ उनकी कविता के पीछे-पीछे भागता है। वे अर्थ के पीछे नहीं चलते।'

भवभूति भाषा के बड़े अच्छे जानकार थे। उनकी कविता में बालकों, बूढ़ों,, जवानों की भाषा के अलग-अलग रूप देखने को मिलते हैं। लव-कुश की भाषा में हमें बालकों की कोमलता देखने को मिलती है। राम, सीता तथा लक्ष्मण की भाषा में हमें जवानी का उत्साह और आशा के भाव देखने को मिलते हैं। वाल्मीकि और जनक जैसे बूढ़े लोगों की भाषा में समझदारी, सीख और गम्भीरता देखने को मिलती है।

इस तरह भाषा के गठन में भी भवभूति ने बड़ी सूझ-बूझ से काम लिया। इन्हीं सब बातों के कारण उनकी कविता सभी युगों में जनता की जबान पर जगह पा सकी। वे जनता के प्रिय कवि बन सके। जैसे सैकड़ों वर्षों पहले वैसे आज भी उनको याद किया जाता है।

□□

६

संस्कृत की नीति-कथाएँ और लोक-कथाएँ

संस्कृत की अब तक की कहानी में वेदों और वैदिक साहित्य के बाद 'रामायण', 'महाभारत' और 'वृहत्कथा' के बारे में पढ़ा। संस्कृत साहित्य को आगे बढ़ाने में इन तीनों पुस्तकों का कितना योगदान रहा, इसके विषय में पढ़ा। उसके बाद हमने संस्कृत साहित्य के मुख्य सन्देश की बातें पढ़ीं। आदिकवि वाल्मीकि और महामुनि वेदव्यास ने कविता की जो धारा बहाई थी, भास, कालिदास, बाण और भवभूति आदि कवियों ने उसको कैसे आगे बढ़ाया, यह भी हम पीछे पढ़ चुके हैं।

अब तक की इस कहानी में हमने काव्य, महाकाव्य, नाटक और गद्यकाव्य के बारे में मुख्य रूप से पढ़ा। उसके बाद यह कहानी नीति-कथाओं और लोक-कथाओं के जरिये आगे बढ़ी। कथाओं की यह थाती हमें 'वृहत्कथा' से मिली। लेकिन वे लोक-मनोरंजन एवं जनता के विनोद तक ही सीमित रहीं। उनको शिक्षा और ज्ञानार्जन का जरिया बनाया 'पंचतन्त्र' और 'हितोपदेश' ने। कोमलमति बालकों को कम-से-कम समय में लोक-व्यवहारों में निपुण बना देना ही इन दोनों पुस्तकों की कथाओं का ध्येय रहा है। यही उनकी विशेषता है।

कथाओं के लोक-विनोद के पक्ष को भी नहीं भुलाया गया। उसको ताजा किया 'कथासरित्सागर' ने। 'वृहत्कथा' जो कि न जाने कब काल के बवण्डर में खो गयी, 'कथासरित्सागर' के जरिए ही फिर से प्रकाश में आयी।

संस्कृत साहित्य में इन तीनों पुस्तकों की प्रेरणा से आगे भी कथाएँ लिखी गयीं। उनकी परम्परा आगे भी उसी रूप में बनी रही। बालकों की शिक्षा और लोक-रंजन के लिए आज भी उनकी वही लोकप्रियता है, जो सैकड़ों वर्षों पहले थी। संस्कृत की इस कहानी में आगे इन्हीं तीन कथा-पुस्तकों के बारे में कहा गया है।

नीति-कथाएँ

संस्कृत साहित्य में कथाओं की परम्परा बहुत प्राचीन है। संस्कृत की ये कथाएँ कई युगों और लोगों के जरिये आगे बढ़ती रहीं। बहुत समय तक वे मौखिक बोली जाती रहीं। बाद में उनको पुस्तकों में लिखा गया। ये कहानियाँ संस्कृत में ही नहीं, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश आदि बोलियों में भी जीवित रहीं।

इन कथाओं का सभी युगों में एक ही ध्येय रहा है। वह है लोक का मनोरंजन, जनता का मन बहलाव। जनता के मनोरंजन के ये साधन युगों के अनुसार बदलते रहे।

वैदिक युग में ऋषि, महर्षि, मुनि, ब्रह्मचारी और पुरोहित इन कथाओं के विषय रहे। उनमें परमात्मा, मोक्ष, ज्ञान और यज्ञ आदि की बातें कही गयी हैं।

रामायण और महाभारत के युग में कथाओं के कहने-सुनने का तरीका बदला। इसी युग में ये कथायें सही मानों में जनता के मनोरंजन का विषय बनीं। राम-रावण और कौरव-पाण्डवों की इन कथाओं के गायक थे नट, नर्तक, सूत और कुशीलव।

उनके बाद पुराणों ने इन कथाओं को फैलाया। उन्हें लोक की रुचि में ढाला। बहुत समय तक ये कथायें मौखिक ही बनी रहीं। उनको जो भी सुनता, अपनी ओर से उनमें कुछ नया जोड़ कर दूसरे-तीसरे को सुनाता। इस तरह कथाओं को सुनने और सुनाने में जनता की दिलचस्पी बढ़ती ही गयी।

लोक या जनता के मुख से जो कथाएँ कही गईं उनको 'दन्तकथा' के नाम से कहा जाने लगा। दन्तकथा, याने लोगों के जरिए कही गई कहानियाँ। इस तरह की सबसे पहली कहानियों का संग्रह गुणाढ्य की 'वृहत्कथा' थी। फिर ये कथाएँ पुराणों के बाद जातकों में देखने को मिलती हैं। ये जातक दन्तकथाओं के पिटारे हैं, भण्डार हैं। भगवान् बुद्ध की लगभग पाँच सौ कथाएँ इन जातकों में कही गयी हैं। इनकी कथाओं में मनुष्य की ऊँची समझ-बूझ का भी परिचय मिलता है। उनमें सच-झूठ का अनोखा मेल-मिलाप है।

कथाओं का यह रूप आगे बढ़ता रहा। उसमें मनुष्य के अलावा पशु, पक्षी, नदी, पहाड़, पेड़-पौधे आदि की कहानियों का भी समावेश हुआ है।

इस प्रकार अनेक युगों में लिखी गयी इन कथाओं पर अपने-अपने युग की छाप है। उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्हें बड़ी अच्छी तरह सजाया गया है।

ये कथाएँ संख्या में इतनी अधिक हैं कि उनकी निश्चित गणना नहीं की जा सकती है। उनमें से कुछ तो ऐसी हैं, जिनमें उस युग के वीरों का वर्णन किया गया है। कुछ ऐसी हैं, जिनमें उस युग की समुद्री यात्राओं का वर्णन है। कुछ में चकित कर देने वाली घटनाएँ कही गयी हैं। कुछ में देवताओं और परियों का वर्णन है। कुछ में धर्म की भावना जाहिर की गयी है। कुछ में पशु-पक्षियों की बातें हैं।

उनको लिखने तथा कहने का उद्देश्य भी एक नहीं रहा। मोटे तौर पर संस्कृत की इन सारी कथाओं को हम चार वर्गों या भागों में अलग कर सकते हैं। उनके नाम हैं। नीति, शिक्षा, उपदेश और मनोरंजन। कुछ कथाएँ ऐसी हैं, जिनमें इन तीनों बातों को सम्मिलित किया गया है। फिर भी हरएक कथा में मुख्य रूप से किसी एक ही बात को कहा गया है।

मोटे तौर पर इन चारों तरह की कथाओं को हम इस प्रकार अलग-अलग कर सकते हैं। 'रामायण', 'महाभारत' और पुराणों में जो कथाएँ कही गयी हैं वे उपदेशप्रद है। उनमें शिक्षा की बातें भी कहीं-कहीं देखने को मिलती हैं। जैनों और बौद्धों के जातकों की अधिकतम कथाएँ शिक्षाप्रद हैं। लेकिन उनमें कहीं-कहीं उपदेश की बातें भी देखने को मिलती हैं। तीसरी तरह की नीति-कथाएँ, 'पंचतन्त्र' और 'हितोपदेश' में कही गयी है। चौथे प्रकार की मनोरंजन कथाएँ 'कथासरित्सागर' में हैं। ये चौथे प्रकार की कथाएँ ही लोक-कथाओं के नाम से कही गयी हैं।

संस्कृत की इन सारी कथाओं को मोटे तौर पर हम दो हिस्सों में अलग करके पढ़ सकते हैं। उनके नाम हैं— नीतिकथाएँ और लोककथाएँ। नीतिकथाओं में 'पंचतन्त्र' और 'हितोपदेश' का नाम आता है। इसी प्रकार लोक-कथाओं में 'कथासरित्सागर' का।

पंचतंत्र

संस्कृत साहित्य में 'पंचतन्त्र' बड़ी लोकप्रिय पुस्तक है। भारत की ही नहीं, संसार की सभी भाषाओं में उसके अनुवाद हो चुके हैं। 'पंचतन्त्र' में कई तरह की कहानियाँ देखने को मिलती हैं। ये कहानियाँ कितनी पुरानी हैं और पहली बार उनको किसने कहा था, इस बारे में बताना बड़ा कठिन है। समाज में फैली इन कहानियों को पहले पहल किसने एक जगह संग्रह किया, इस बात की भी कोई जानकारी नहीं मिलती।

हमारे सामने 'पंचतन्त्र' की जो पुस्तक है वह विष्णु शर्मा की बतायी जाती है। विष्णु शर्मा की इस पुस्तक में कितने फेर-बदल हुए, इस बारे में भी कुछ नहीं कहा जा सकता। अपने मूलरूप में विष्णु शर्मा की यह पुस्तक बहुत पुरानी है। इसका समय तीसरी शती, याने आज से लगभग सत्रह सौ वर्ष पहले माना जाता है।

विष्णु शर्मा के नाम से इस समय जो 'पंचतन्त्र' मिलता है उसमें पाँच तन्त्र या भाग हैं। उनके नाम हैं— १. मित्रभेद, २. मित्र संप्राप्ति, ३. काको लूकीय, ४. लव्ध प्रणाश और ५. अपरीक्षितकारक।

इन कहानियों को पढ़कर इनके बारे में कुछ बातें निकाली जा सकती हैं। ये कहानियाँ उस समय लिखी गयीं, जब राज-दरबारों में संस्कृत भाषा का सम्मान था। सारा काम-काज उसी में होता था। इन कहानियों को दो कारणों से लिखा गया है। उनसे सुकुमारमति राजकुमारों को संस्कृत का ज्ञान कराया जा सके। और उनको सरलता से राजनीति की जानकारी करायी जा सके। उन्हें नीतिविद्या में चतुर बनाया जा सके।

इन कहानियों को क्यों लिखा गया, इसका हवाला 'पंचतन्त्र' में ही देखने को मिलता है। महिलारोप्य का राजा अमरशक्ति ऐसे शिक्षक की खोज में था, जो उसके तीन मूर्ख पुत्रों को थोड़े ही समय में शिक्षा दे सके। तब विष्णु शर्मा नाम के ब्राह्मण ने यह बीड़ा उठाया। उसने वादा किया कि छः महीने में ही वह उन मूर्ख राजकुमारों को नीति विद्या में पारंगत कर देगा। इसके लिए उसने 'पंचतन्त्र' की कहानियाँ लिखीं। इन कहानियों को पढ़कर छः महीने के भीतर ही तीनों राजकुमार राजनीति के जानकार हो गए।

इसी बात को विष्णु शर्मा ने 'पंचतन्त्र' का आरम्भ करते हुए 'कथामुख' में इस प्रकार विस्तार से कहा है—

दक्षिण भारत में महिलारोप्य नामक एक नगर है। वहाँ कल्पवृक्ष के समान और सभी कलाओं तथा विद्याओं में कुशल अमरशक्ति नाम का एक राजा हुआ। उसके तीन पुत्र थे। उनके नाम थे— बहुशक्ति, उग्रशक्ति और अनन्तशक्ति। तीनों बड़े मूर्ख निकले। एक बार राजा ने अपने मन्त्रियों को बुलाकर कहा, "मन्त्रियो, आप लोगों को

मालूम ही है कि मेरे तीनों पुत्र मूर्ख हैं। पढ़ने-लिखने में उनकी तनिक भी रुचि नहीं है। अपने इन तीनों कुपूतों के कारण मुझे अपना यह राज-पाट सब सूना लग रहा है। किसी ने ठीक ही कहा—

'पुत्र न होना, होकर मर जाना और जीवित रहकर भी मूर्ख होना, तीनों में न होना या होकर मर जाना ही ठीक है। ये दोनों तो थोड़ा दुःख देकर चले जाते हैं। लेकिन मूर्ख पुत्र सारे जीवन दुःख की आग में जलाते रहते हैं। इस संसार में पुत्र के जन्मते ही मर जाना अच्छा है। लेकिन मूर्ख बन कर जीना अच्छा नहीं।'

'इसलिए इन तीनों को जिस युक्ति से पढ़ाया-लिखाया जा सके वैसा उपाय सोचें। मेरे दरबार में एक दो नहीं, पूरे पाँच सौ विद्वान् हैं। उनमें से जो जैसा कर सके उससे वैसा करायें।'

राजा की इन बातों को सुनकर एक मन्त्री ने कहा, 'महाराज, अकेले व्याकरण शास्त्र को पढ़ने के लिए पूरे बारहवर्ष का समय चाहिए। उसके बाद धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र और कामशास्त्र आदि कई शास्त्र हैं। उनको पढ़ने के लिए भी कई वर्षों का समय चाहिए। तब जाकर कोई विद्वान् हो सकता है।

उसके बाद सुमति नामक एक मन्त्री ने कहा, 'महाराज, यह जीवन क्षणिक है। आज है तो कल नहीं। शास्त्रों को पढ़ने के लिए वर्षों का समय चाहिए। इसलिए मेरी तो यह राय है कि इन मूर्ख राजकुमारों के लिए कुछ दूसरे ही तरीके से सोचना होगा। सोचना यह होगा कि किस तरह थोड़े ही समय में उन्हें शास्त्रों की जानकारी करायी जा सकती है। जिस तरह जल के बीच से हंस दूध को निकल लेता है उसी प्रकार शास्त्रों से सार लेकर इन राजकुमारों को देना चाहिए।'

उसने उपाय बताते हुए राजा से आगे कहा, 'अपने ही राज्य में विष्णु शर्मा नाम का एक ब्राह्मण है। वह सब शास्त्रों का जानकार है। विद्यार्थियों के बीच उसके नाम की बड़ी प्रसिद्धि है। इन तीनों कुमारों को उन्हें सौंप दीजिए। वे अवश्य ही इन्हें बुद्धिमान बना देंगे।'

मन्त्री सुमति की बात सुनकर राजा अमरशक्ति ने विष्णु शर्मा को बुलाया। उससे निवेदन किया, 'भगवन्, मुझ पर कृपा करके मेरे इन कुमारों को अपनी शरण में ले लें। जैसे भी हो इन्हें नीतिशास्त्र में निपुण बना दीजिए। मैं आपको सौ गाँव भेंट देता हूँ।'

इस पर विष्णु शर्मा ने कहा, 'महाराज, मेरी सही बात सुनिये। मैं सौ गाँव लेने पर भी अपनी विद्या को नहीं बेचूँगा। लेकिन फिर भी मैं आपके बालकों को छः महीने में नीतिशास्त्र में निपुण बना दूँगा। यदि ऐसा न किया तो मैं अपना नाम बदल दूँगा। अधिक कहने से क्या लाभ। मेरी इस दो टूक बात को सुनिए। मुझे धन का तनिक भी लोभ नहीं। जिसकी सब इन्द्रियाँ शिथिल हो गयीं हैं, ऐसे अस्सी वर्ष के मुझ बूढ़े को धन की आवश्यकता ही क्या? आपकी प्रार्थना को स्वीकार करना तो एक बात की बात है। आप आज का दिन नोट कर लें। अगर छः महीने के भीतर मैंने आपके पुत्रों को नीति-शास्त्र में कुशल न बना दिया तो आप मुझे नरक भोग का दण्ड दे सकते हैं।'

ब्राह्मण विष्णु शर्मा की इस प्रतिज्ञा को सुनकर राजा और उसके सभी मन्त्री प्रसन्न और चकित दोनों हुए। उन्होंने तीनों राजपुत्रों को उनके हवाले कर दिया। इस प्रकार उनका भार हलका हुआ। उधर विष्णु शर्मा ने उनको स्वीकार किया। उनके लिए उन्होंने पाँच तन्त्रों, याने अध्यायों वाली एक पुस्तक तैयार की। उसको उन्हें पढ़ाया। उसे पढ़कर सचमुच ही छः मास के भीतर वे राजकुमार नीतिशास्त्र के पूरे जानकार हो गये।

तभी से यह 'पंचतन्त्र' बालकों के बोध के लिए इस धरती पर प्रचलित हुआ। इस 'कथामुख' के अन्त में विष्णु शर्मा ने लिखा है, 'मैं अधिक क्या कहूँ! जो भी व्यक्ति इस नीतिशास्त्र को प्रतिदिन पढ़ता या सुनता है, औरों की तो बात ही क्या, इन्द्र भी उसे युद्ध में नहीं हरा सकता है।'

'पंचतन्त्र' की कहानियाँ इसीलिए लिखी गयीं।

हितोपदेश

संस्कृत कहानियों की दूसरी पुस्तक का नाम है 'हितोपदेश'। इसे 'पंचतन्त्र' का ही संस्करण माना जाता है। 'पंचतन्त्र' के आधार पर ही 'हितोपदेश' की कहानियाँ लिखी गयीं। इसमें तैंतालीस कहानियाँ हैं। उनमें पच्चीस कहानियाँ 'पंचतन्त्र' से ही ली गयी हैं।

'हितोपदेश' की कहानियों के लेखक का नाम है नारायण पण्डित। वह बंगाल के राजा धवलचन्द्र का राजकवि था। उसका समय चौदहवीं शती, याने आज से लगभग छः सौ वर्ष पहले माना जाता है। उसके बारे में इससे अधिक कुछ मालूम नहीं होता।

'हितोपदेश' में चार परिच्छेद या भाग हैं। उनके नाम हैं— १. मित्रलाभ, २.सुहृदभेद, ३. विग्रह और ४. सन्धि। 'पंचतन्त्र' की ही तरह 'हितोपदेश' की कहानियाँ भी बड़ी लोकप्रिय हैं। संस्कृत पढ़ने वाले छात्रों को पहले यही कहानियाँ पढ़ायी जाती हैं।

नारायण पण्डित ने 'हितोपदेश' का आरम्भ करते हुए 'प्रस्तावना' में लिखा है—

इस 'हितोपदेश' को पढ़ने से कई लाभ हैं। उसमें संस्कृत बोलने-चालने का ज्ञान होता है। वाक्यों के विविध प्रयोग की विधि का पता चलता है। इसके साथ ही नीतिविद्या की जानकारी होती है।

हरेक मनुष्य को धन और विद्या का संचय करना चाहिए। उन्हें यह समझ कर धर्म का आचरण करना चाहिए कि मृत्यु उसके शिर पर खड़ी है। संसार में जितने भी धर्म हैं, सब में विद्या उत्तम है। उसे न तो कोई चुरा सकता है और न मिटा सकता है। इसी विद्या से छोटा मनुष्य भी राजा-महाराजाओं तक पहुँच जाता है। विद्या से जीवन में विनय आता है। विनय से पात्रता आती है। पात्रता से धन की प्राप्ति होती है। धन से धर्म और सुख मिलता है।

विद्या की इस विशेषता को बतलाकर प्रस्तावना में आगे कहा गया है—

गंगा के किनारे पाटलिपुत्र (पटना) नाम का एक नगर था। वहाँ सब गुणों से युक्त सुदर्शन नाम का एक राजा राज्य करता था। उस राजा ने एक दिन किसी के मुख

से सुना कि 'शास्त्र से सभी तरह के संशय दूर हो जाते हैं। वह ऐसा नेत्र है, जिससे कि सब जगह देखा जा सकता है। जिसने शास्त्र को नहीं पढ़ा वह अन्धे की तरह है। जवानी, धन, प्रभुत्व और अज्ञान इन चारों में एक भी बहुत बुरा है। जिनके पास ये चारों हैं उसका तो कहना ही क्या?'

यह सुनकर राजा का ध्यान अपने शास्त्रविमुख और उलटे रास्ते पर चलने वाले पुत्रों की ओर गया। वह बड़ा दुःखी हुआ। उसने सोचा, 'उस पुत्र के पैदा होने का क्या लाभ जो पढ़ा-लिखा न हो और धर्म का पालन न करता हो।' कहा भी है—

वरमेकोगुणीपुत्रो न च मूर्ख शतान्यऽपि।
एकश्चन्द्रस्तमो हन्ति न च तारागणाऽपि॥

(सौ मूर्ख पुत्रों से एक गुणी पुत्र अच्छा। आसमान तो अनेक तारों से भरा पड़ा है किन्तु अन्धेरे को चाँद ही दूर करता है।)

उसने अपने आप से कहा, 'अरे राजा सुदर्शन, बुद्धिमान चाहे किसी का पुत्र हो, वह पूज्य होता है। ऐसे धनुष का क्या लाभ, जिसका बाँस तो बहुत बढ़िया है किन्तु जिसमें डोरी नहीं है। इसी तरह ऊँचे कुल में पैदा होने से क्या फायदा, अगर वह गुणी न हो।'

'भाग्य में जो होने वाला होता है वह अवश्य होता है। लेकिन भाग्य पर भरोसा करके मनुष्य को मेहनत नहीं छोड़नी चाहिए। अगर सफलता प्राप्त करनी ही है तो उसके लिये कोई रास्ता निकालना ही होगा। बिना मेहनत के अकेला भाग्य कुछ नहीं कर सकता है। इसलिए आलस्य छोड़ कर काम में लग जाना चाहिए। जो माता-पिता अपने बालक को पढ़ाते-लिखाते नहीं वे उसके शत्रु हैं। ऊँचे वंश में पैदा होने वाले सुन्दर और जवान मनुष्य के पास अगर विद्या नहीं है तो वह उस पलास के फूल की तरह है, जो देखने में तो अच्छा लगता है किन्तु जिसमें सुगन्ध नहीं।'

ऐसा सोच-विचार करने के बाद राजा सुदर्शन ने अपनी राजसभा बुलाई। सभा में बैठे अपने विद्वानों से राजा ने कहा, 'हे पण्डितों, सुनो। आप में से कोई ऐसा विद्वान् है, जो मेरे कुमति एवं कुमार्गी पुत्रों को नीति-शास्त्र सिखाकर उन्हें दूसरा जीवन दे सके?'

राजा की इस बात को सुनकर वृहस्पति के समान बुद्धिमान् विष्णु शर्मा ने कहा, 'हे महाराज, ये राजकुमार ऊँचे कुल में पैदा हुए हैं। इसलिए वे नीतिशास्त्र को अवश्य ग्रहण करेंगे। आपके कुल में पैदा ये पुत्र उसी तरह मूर्ख नहीं रह सकते हैं जिस तरह कि मणि की खान में काँच पैदा नहीं हो सकता है। इसलिए आपके इन पुत्रों को मैं छः महीने में ही नीतिशास्त्र में निपुण बना दूँगा।'

विष्णु शर्मा के ऐसे आश्वासन देने पर राजा ने कहा, 'हे विद्वान्, एक कीड़ा भी, फूल का साथ पाकर महापुरुषों के शिर पर जा विराजता है। एक पत्थर भी महापुरुषों से सम्मानित होकर देवताओं की तरह पूजा जाता है। गुणियों का गुण जब निर्गुण में जाता है तो दोष बन जाता है। इसी तरह मीठे जल की नदियाँ जब समुद्र में जा मिलती हैं तो वे भी खारी हो जाती हैं। इसलिए मेरे इन पुत्रों को आप नीतिशास्त्र में निपुण बना दें।'

यह सब कह कर राजा सुदर्शन ने अपने मूर्ख पुत्रों को विष्णु शर्मा के हवाले कर दिया।

इस तरह 'पंचतन्त्र' के 'कथामुख' और 'हितोपदेश' की प्रस्तावना को देखकर मालूम होता है कि दोनों की कथाएँ राजकुमारों को नीतिशास्त्र की शिक्षा के लिए लिखी गयी थीं। दोनों में राजाओं और उनकी राजधानियों के नाम में फर्क है। 'पंचतन्त्र' की कथाएँ महिलारोप्य के राजा अमरशक्ति के तीन मूर्ख पुत्रों के लिए लिखी गयी थीं। 'हितोपदेश' की कथाएँ पाटलिपुत्र के राजा सुदर्शन के राजकुमारों के लिए लिखी गयीं। इसी प्रकार दोनों के समय में भी अन्तर है।

दोनों की कथाओं को पढ़ते समय एक बात सामने आती है। वह है उनका कथा कहने का तरीका। 'पंचतन्त्र' की अपेक्षा 'हितोपदेश' की कथाओं में अधिक आकर्षण है। प्रत्येक कक्षा के मुख्य ध्येय को प्रभावशाली बनाने के लिए उसमें चुने हुए उदाहरण जगह-जगह बैठा दिये हैं। 'पंचतन्त्र' की कथाओं में भी ऐसा देखने को मिलता है। लेकिन 'हितोपदेश' से उनका कोई मुकाबला नहीं। इसके अलावा 'पंचतन्त्र' की अपेक्षा 'हितोपदेश' की भाषा सरल है। उसके वाक्यों का गठन भी अच्छा है।

यही कारण है कि 'पंचतन्त्र' की कहानियों से 'हितोपदेश' की कहानियाँ अधिक लोकप्रिय हुईं।

इन कहानियों की विशेषताएँ

असल में देखा जाय तो जितनी भी कथाएँ हैं उन सबका एक ही उद्देश्य है। वह है मनोरंजन, दिल-बहलाव। आज भी कथाओं को कहने और सुनने का यही लक्ष्य माना जाता है। सहज और सरल तौर पर शिक्षा तथा उपदेश देने के लिए ये कहानियाँ बड़ी कारगर साबित हुईं। राजनीति की जानकारी के लिए भी इन कथाओं से बड़ी सहायता ली गयी।

वेदों, ब्राह्मणों, आरण्यकों, उपनिषदों और पुराणों में भी कथाएँ कही गयी हैं। जैन-बौद्धों का साहित्य भी कथाओं से भरा हुआ है। लेकिन जिस तरह की कथाएँ 'पंचतन्त्र' और 'हितोपदेश' में कही गयी हैं, वैसी कहीं भी देखने को नहीं मिलतीं। आर्य सूर की 'जातकमाला' में भी कथाओं का अच्छा संकलन है। लेकिन उसकी कथाओं पर भी पुराणों का प्रभाव है। उनमें गद्य और पद्य दोनों का मिश्रण है। इसके अलावा उनमें इतिहास का भी पुट है।

'पंचतन्त्र' और 'हितोपदेश' की कहानियाँ एकदम भिन्न हैं। उनमें पूरी कथाएँ गद्य में कही गयी हैं। बीच-बीच में किसी खास बात को कहने या उसकी पुष्टि करने के लिए पद्य का प्रयोग किया गया है। इसके अलावा उनमें न तो इतिहास की लकीरें हैं और न पुराणों का जाल-जंजाल। वे सरल भाषा और सीधी-सादी शैली में कही गयी हैं। सुकुमारमति बालक भी उनको भली-भाँति समझ लेता है। उन कथाओं की सबसे बड़ी विशेषता है रोचकता। उनमें जो बातें कही गयी हैं वे इतनी रोचक हैं कि उनको पढ़ते समय अन्त तक पाठक की उत्सुकता बनी रहती है। एक कथा के पूरी होने के

साथ ही दूसरी कथा को जोड़ देने की यह शैली 'पंचतन्त्र' और 'हितोपदेश' में ही देखने को मिलती है। बाद के कथाकारों ने भी इसको अपनाया। लेकिन उसमें उतनी चारुता और सफाई नहीं आ पाई। माला के मनकों की तरह इन कथाओं को बड़ी तरतीब से रखा गया है।

इन कथाओं को कहने का तरीका भी निराला है। हरएक कथा को सादे तौर पर शुरू करके उसके अन्त में किसी शिक्षा या उपदेश की बात को कहा गया है। पहली कथा की समाप्ति पर दूसरी कथा को भी जोड़ दिया गया है।

इन कथाओं को पढ़कर आज भी हमारा मनोरंजन होता है। हमें अच्छे-अच्छे उपदेश मिलते हैं। अच्छी-अच्छी शिक्षाएँ मिलती हैं। उनको पढ़कर हम राजनीति के उलट-फेरों की जानकारी पाते हैं।

इतना ही नहीं, इससे भी बढ़कर हमें इन कथाओं से दूसरी कई बातों की जानकारी मिलती है। ये बातें हमारे पुराने देश की हैं। हमारा यह देश आज से हजारों वर्ष पहले कैसा था, उसकी झाँकी इन कथाओं में देखने को मिलती है। हमारे देश का पुराना इतिहास क्या था, उसका रहन-सहन कैसा था, धर्म, संस्कृति, राजनीति और समाज की तब क्या दशा थी, इन बातों की जानकारी भी मिलती है।

इन कथाओं को पढ़कर पहली बात हमें यह मालूम होती है कि पुराने जमाने में हमारा यह देश छोटी-छोटी रियासतों में बँटा हुआ था। राजा सबसे बड़ा होता था। उनके अपने बुद्धिमान और चतुर मन्त्री होते थे। राजकुमारों की पढ़ाई-लिखाई का सारा भार उन पर होता था।

उस युग के लोगों का जादू-टोना, तन्त्र मन्त्र में विश्वास था। शकुन विचारे जाते थे। उनमें देवताओं, अप्सराओं, परियों, राजाओं, रानियों की कथाएँ भी कही गयी हैं। धनवान और गरीबों की बातें हैं। समाज में ऊँचा दर्जा हासिल करने की शिक्षाएँ हैं। उनमें धूर्त, जुआरी, शराबी, आवारा, साधु और ठग की मनोरंजक बातें बतायी गयी हैं।

इन कहानियों में पशु-पक्षियों और साधु-सन्तों की बातें कही गयी हैं। उनमें नीति और सदाचार की बातें कही गयी हैं। उनको कहने का तरीका इतना सरल और मनोरंजक है कि छोटे-छोटे बच्चे भी उनको समझ सकते हैं। उनमें जिन पशु-पक्षियों की बातें कही गयी हैं वे बालकों के मन पर बड़ा असर डालती हैं। वे पशु-पक्षी मनुष्यों की तरह बोलते हैं। वैसा ही व्यवहार करते हैं। उनमें मनुष्यों जैसा लड़ाई-झगड़ा, मेल-मिलाप और नाते-रिश्ते देखने को मिलते हैं।

उनको पढ़कर मालूम होता है कि आज की अपेक्षा पुराने जमाने में कहानियाँ कहने और सुनने का बड़ा शौक था। समाज के सभी वर्ग के लोग उनको पसन्द करते थे। शायद यही कारण है कि आज वे इतनी अधिक मात्रा में पाई जाती हैं।

'पंचतन्त्र' और 'हितोपदेश' की हरएक कथा किसी उपदेश या शिक्षा के सन्देश को देती हैं। ये शिक्षाएँ अक्सर उन कोमलमति बालकों के लिए हैं, जो अभी-अभी विद्या के क्षेत्र में प्रवेश कर रहे हैं। उन कथाओं की अनमोल शिक्षाएँ इस प्रकार हैं—

- दोस्ती का दामन पकड़ फिर उससे किनाराकशी नहीं करनी चाहिए।
- बिना मतलब किसी काम को नहीं करना चाहिए। किसी काम का परिणाम समझे बिना उस काम को हाथ में न लेना चाहिए।
- ताकत से बुद्धि बड़ी होती है।
- अति लोभ करना जीवन के लिए खतरा मोल लेना है।
- मूर्खता मनुष्य की दुश्मन है।
- दुश्मन की शक्ति का अनुमान लगाये बिना उससे उलझना नहीं चाहिए।
- अपनी बुद्धि के आगे दूसरों की बुद्धि को तुच्छ नहीं समझना चाहिए।
- हरएक काम को खूब सोच-समझ कर करना चाहिए।
- अपने मित्र और अपनी प्रजा के लिए प्राणों तक को निछावर कर देना चाहिए।
- बड़प्पन वही है, जिसमें दया और प्रेम है।
- छोटों को बड़ों की सेवा और आदर करना चाहिए।
- सदाचार के बिना जीवन को ऊँचा नहीं किया जा सकता है।
- जो लोग दूसरों का अपमान करते हैं उनकी लोक में हँसी होती है।

इस तरह ये कथाएँ एक ओर तो नैतिक, धार्मिक और सामाजिक कुरीतियों को दूर करने में सहायक हैं। दूसरी ओर जीवन को ऊँचा उठाने और उसे अच्छे रास्ते पर लगाने की सीख देती हैं। कोमलमति बालकों पर उनका बड़ा असर पड़ता है। उनसे राजनीतिशास्त्र की ही नहीं, व्यवहार की भी शिक्षा मिलती है।

संस्कृत की ये कहानियाँ इतनी लोकप्रिय सिद्ध हुईं कि न केवल अपने देश में, बल्कि विदेशों में भी उनका प्रसार हुआ। संसार में इनका व्यापक प्रचार-प्रसार हुआ। धरती के जिस कोने में ये कहानियाँ पहुँचीं वहीं के निवासी इन कहानियों को सुनकर मोहित हो उठे।

इन कहानियों की लोकप्रियता का यह सबसे बड़ा उदाहरण है। संसार की भाषाओं में जितनी भी पुस्तकें लिखी गयी हैं उनमें सबसे पहला नाम 'बाइबिल' का माना जाता है। सबसे पहला नाम इस माने में कि संसार की सभी भाषाओं में उसके अनुवाद हुए। हमारे लिए यह बड़े गौरव की बात है कि 'बाइबिल' के बाद 'पंचतन्त्र' की कहानियों का दूसरा स्थान है।

आज संसार की तमाम भाषाओं में 'पंचतन्त्र' की कहानियों का अनुवाद हो चुका है। करोड़ों की संख्या में लोग उनको जानते हैं। उनसे आनन्द लेते हैं। उनकी यह सबसे बड़ी सफलता है।

लोक-कथाएँ

संस्कृत साहित्य की नीति-कथाओं के बारे में हम पहले पढ़ चुके हैं। उनके अलावा कुछ कथाएँ और भी हैं। उन्हें लोक-कथाओं के नाम से कहा जाता है। इन लोक-कथाओं की सबसे पहली पुस्तक का नाम था 'बृहत्कथा'। यह पुस्तक इस

समय नहीं मिलती है। इसके बारे में हम 'रामायण' और 'महाभारत' के प्रसंग में पढ़ चुके हैं।

हमारे पास इस समय की सबसे बड़ी पुस्तक है 'कथासरित्सागर'। इसके बारे में जानने से पहले हमें लोककथाओं के बारे कुछ जान लेना चाहिए।

हमें पहली बात तो यह जान लेनी चाहिए कि नीतिकथाओं और लोक-कथाओं में अन्तर क्या है। अगर हम इस दृष्टि से विचार करते हैं तो इन दोनों प्रकार की कथाओं में हमें काफी अन्तर देखने को मिलता है। नीति-कथाओं में शिक्षा तथा उपदेश की बातें होती हैं। उनको किसी ने बनाया है। उनको इसलिए बनाया गया कि राजकुमारों को थोड़े ही समय में नीति तथा सदाचार की बातों में कुशल बना दिया जाय।

लेकिन लोक-कथाओं के बारे में ऐसा नहीं हुआ। उनको किसी एक आदमी ने नहीं बनाया। वे तो लोगों के मुखों से निकलीं। वे किसी आदमी की न होकर सारी जनता की थीं। उन्हें किसी को लिखाने-पढ़ाने के लिए नहीं कहा गया। उन्हें तो मनोरंजन-विनोद के लिए कहा गया। उनको सुनकर मनबहलाव हो, हँसी-खुशी मिले, यही उनका ध्येय था।

दोनों तरह की कथाओं में एक बात और भी ध्यान रखने की है। वह यह कि नीति-कथाओं में हम पशु-पक्षियों को भी मनुष्यों की तरह बातचीत करते हुए पाते है। लेकिन लोक-कथाओं में यह बात नहीं है। उनमें मनुष्य ही मनुष्य हैं। पशु-पक्षी नहीं हैं।

यही दोनों की अपनी-अपनी अलग विशेषताएँ हैं।

इन्हें लोक-कथाओं के नाम से क्यों कहा जाता है, इसको भी जान लेना चाहिए।

लोक-कथाएँ उनको कहा जाता है, जो लोक, अर्थात् जनता के मुखों से निकलीं। लोक ने ही इनको बनाया, गढ़ा और कई हजार वर्षों तक वे लोक के मुख में जीवित रहीं। ये कथाएँ पीढ़ी-दर-पीढ़ी से आगे बढ़ती रहीं। वे एक के मुख से दूसरे के कानों तक पहुँचीं।

अलिखित होने के कारण इन कथाओं में नयी-नयी बातें जुड़ती गयीं। एक युग तो ऐसा आया कि इन कथाओं को लोगों ने अपनी आजीविका का साधन तक बना डाला। समाज में, राजा-महाराजाओं के यहाँ, रईसों और सामन्तों की हवेलियों में, सभी जगह इन कथाओं को सुनने-सुनाने का चाव बढ़ा। इन कथाओं को कहने वालों की इज्जत होने लगी। उनको अच्छी-अच्छी जगहें मिलीं। इस तरह समाज के सभी वर्गों में उनका प्रवेश हुआ।

लोक-जीवन की इस विरासत ने साहित्य पर भी असर डाला। हमारे साहित्यकारों ने उसको अपनाया। उसे अपनी पुस्तकों का विषय बनाया। हमारे कलाकारों ने अपनी लेखनी से उसको चमकाया। इस तरह लोक की, जनता की अपनी वाणी पुस्तकों के रूप में उन्हें पढ़ने को मिली।

इस प्रकार की पुस्तकों में 'वृहत्कथा' का नाम सबसे पहले आता है। यह पुस्तक भले ही आज देखने को नहीं मिलती। लेकिन इसके बारे में हमें बहुत-सी बातें

पढ़ने को मिलती हैं। ये बातें ऐसी हैं, जिन पर अविश्वास नहीं किया जा सकता। उनको ऐसे लोगों ने कहा, जो उसे देख चुके थे, पढ़ चुके थे, जिससे उन्होंने प्रेरणा ली। जिसकी उन्होंने प्रशंसा की है। इन बातों को हम पीछे पढ़ चुके हैं।

गुणाढ्य की 'वृहत्कथा' न जाने कहाँ और कैसे नष्ट हो गयी। लेकिन उसके तीन संस्करण किसी तरह बचे रह गये। उन तीनों के नाम हैं— १.बृहत्कथा श्लोक संग्रह, २. बृहत्कथा मंजरी, और ३. 'कथासरित्सागर'। इन तीनों के लेखकों के क्रमशः नाम हैं— १. बुद्धस्वामी, २. क्षेमेन्द्र और ३. सोमदेव भट्ट।

'बृहत्कथा श्लोक संग्रह' के लेखक बुद्धस्वामी नेपाल के रहने वाले थे। वे आज से लगभग ग्यारह-बारह सौ वर्ष पहले, आठवीं या नवीं शती में हुए। यह समय ऐसा था, जब संस्कृत के लिए बाहरी देशों के लोगों की बहुत रुचि थी। नेपाल, तिब्बत और सुदूर उत्तर तक संस्कृत फैली।

'बृहत्कथा मंजरी' के लेखक का नाम क्षेमेन्द्र था। वे काश्मीर में पैदा हुए। वे काश्मीर के विद्याप्रेमी राजा अनन्त के राजकवि थे। वहीं उन्होंने इस पुस्तक को लिखा। उसका समय आज से लगभग नौ सौ वर्ष पहले, याने ग्यारहवीं शती ईसवी था।

'कथासरित्सागर' के लेखक सोमदेव भट्ट भी काश्मीरी ही थे। वे भी राजा अनन्त के दरबारी कवि थे। राजा अनन्त की रानी सूर्यवती के कहने पर सोमदेव ने अपनी यह पुस्तक लिखी थी। ऐसा कहा जाता है कि क्षेमेन्द्र की पुस्तक के बीस वर्ष बाद सोमदेव ने अपनी पुस्तक लिखी। इस वजह से सोमदेव का समय भी आज से नौ सौ वर्ष पहले बैठता है।

एक ही 'वृहत्कथा' के इन तीन संस्करणों के पढ़ने पर कुछ बातें हमारे सामने आती हैं। उनमें पहली बात तो यह कि तीनों में परस्पर मेल नहीं है। उनमें पर्याप्त अन्तर है। उनमें कहानियों के कहने का तरीका भी अलग-अलग है। उनकी कथाओं में समानता नहीं है। किसी में कम तो किसी में अधिक कथाएँ हैं। आकार-प्रकार की दृष्टि से तीनों की कोई तुलना नहीं है। क्षेमेन्द्र की पुस्तक से सोमदेव की पुस्तक तिगुनी और बुद्धस्वामी की पुस्तक से पाँच गुनी बड़ी है।

इस तरह सोमदेव का संस्करण ही सबसे बड़ा ठहरता है। सबसे बड़ा ही नहीं, उसे मूल 'वृहत्कथा' के अधिक नजदीक भी बताया जाता है।

'वृहत्कथा' के ये तीनों संस्करण पद्य अर्थात् कविता में लिखे गए हैं। 'वृहत्कथा श्लोक संग्रह' में २८ सर्ग और ४५३९ पद्य हैं। 'वृहत्कथा मंजरी' में १९ अध्यायों में ७५०० पद्य हैं। इसी तरह 'कथासरित्सागर' में १८ लम्बकों में १२४ तरंग और पूरे २९,३८८ पद्य हैं।

इन तीनों पुस्तकों में कथाओं का जो क्रम दिया गया है वह भी आपस में नहीं मिलते। इतना ही नहीं, इनमें जो कथाएँ कही गयी हैं उनमें भी बहुत अन्तर है। एक ही कथा को तीनों कथाकारों ने अलग-अलग तरह से कहा है। किसी संस्करण में कोई कथा कम है तो कोई अधिक।

कथासरित्सागर

ऊपर बताया गया है कि 'कथासरित्सागर', 'वृहत्कथा' का ही दूसरा रूप है। लेकिन हमें ऐसा मालूम होता है कि 'कथासरित्सागर' में कुछ बातें ऐसी भी जोड़ी गयीं जो 'वृहत्कथा' में नहीं थीं। उसमें ऐसी कथायें देखने को मिलती हैं, जिनका मूल कथाओं से कोई मेल नहीं है। ये नयी कथाएँ शायद उस समय काश्मीर में फैली हुई थीं। बुद्धस्वामी उनके लोभ को नहीं छोड़ सके। उन्होंने अपनी पुस्तक में उन्हें भी जोड़ दिया।

इन कथाओं में इस देश की पुरानी संस्कृति और परम्पराएँ बँधी हुई हैं। उनमें बीते हुए लम्बे युग की धर्म, जाति और राजनीति की बातें देखने को मिलती हैं। ये कथाएँ बीते हुए युग की एक तस्वीर हमारे सामने पेश करती हैं।

इन कथाओं से हमें मालूम होता है कि उस समय यह देश छोटे-छोटे रजवाड़ों में बँटा हुआ था। राजाओं के मन्त्री होते थे। वे बड़े चतुर और लिखे-पढ़े होते थे। लड़ाने-झगड़ाने और फिर से मेल-मिलाप कराना उनका काम होता था। राजा लोग भोग-विलास को पसन्द करते थे। उनके दरबार सजे-धजे होते थे।

आज की तरह उस युग के समाज में भी कई जातियाँ थीं। विवाह-शादी की कोई रोक-टोक नहीं थी। छोटी जाति के लोगों से राजकुमारियों तक का विवाह होता था। खान-पान के बारे में उदारता बरती जाती थी।

उस समय बाल-विवाह नहीं होते थे। विधवाएँ भी दूसरा विवाह कर सकती थीं। एक आदमी कई विवाह कर सकता था। राजा और धनी लोग ही ऐसा करते थे। जवान लड़कियाँ और लड़के अपनी मर्जी से अपना विवाह करते थे।

उस समय कई तरह के पेशे थे। उनमें व्यापार को बड़ा माना जाता था। देश के एक कोने से दूसरे कोने तक व्यापार होता था। यहाँ तक कि व्यापारी लोग समुद्र-यात्रा भी करते थे।

तब परदा-प्रथा नहीं थी। स्त्रियाँ पुरुषों की तरह ही आजाद थीं। वे तरह-तरह के पेशे तक करती थीं। व्यापार में भी वे भाग लेती थीं। कला का उन्हें बड़ा शौक था। वे नाच-गाने में बड़ी चतुर होती थीं। चित्रकला उनका व्यसन बन गया था। राजकुमारियाँ और इसी तरह सेठ-सामन्तों की लड़कियाँ और स्त्रियाँ दूसरे पुरुषों से छिपकर प्रेम करती थीं। अपने प्रेमियों के पीछे अपने पतियों की हत्या तक करने में वे नहीं हिचकती थीं। इन बातों को बुरा माना जाता था। इसके बावजूद स्त्रियों के चरित्र में कई ऊँची बातें भी थीं। वे अपने पतिव्रत-धर्म का पालन करती थीं। उनमें शील और मर्यादा थी।

उस समय जादू-टोना, तन्त्र-मन्त्र का बहुत रिवाज था। लोग जुआ खेलते थे। शराब और मांस भी खाते थे। समाज से इन बुराइयों को दूर करने का भी प्रबन्ध था। उन्हें बुरा माना जाता था।

उस समय तीन धर्मों का बोलबाला था। वे थे ब्राह्मण, बौद्ध और जैन। तीनों धर्मों के लोगों को पूरी आजादी थी। वे अपने-अपने धर्मों को फैलाने में रुचि लेते थे।

लिखे-पढ़े लोगों का सभी जगह आदर समान रूप से होता था। उन्हें दरबारों में ऊँचे-ऊँचे पद दिए जाते थे। समाज में ज्ञान और विद्या का प्रचार-प्रसार करने वाली अनेक सभाएँ होती थीं। उनको राज्य की ओर से सहायता मिलती थी।

इस तरह 'कथासरित्सागर' की इन कहानियों में हमारे देश का पुराना इतिहास बोलता है। ये हमारी पुरानी संस्कृति की विरासत हैं। इनमें इस देश के लोक-मानस की थाती सुरक्षित है। इस देश में आज से कई वर्ष पहले का लोक-जीवन इन कथाओं से जो विनोद करता था, आज भी उनसे हमको वैसा ही मनोरंजन प्राप्त होता है। हमारे लोक-मानस पर उनकी छाप अमिट है।

'पंचतन्त्र', 'हितोपदेश' और 'कथासरित्सागर' की कथाओं के बारे में ऊपर बहुत-सी बातें बतायी गयी हैं। उन कथाओं को पढ़कर ही उनकी असलियत को जाना जा सकता है। यहाँ नमूने के तौर पर तीनों पुस्तकों से एक-एक कहानी दी जाती रही है। उनको पढ़कर उनके बारे में कुछ अनुमान अवश्य लगाया जा सकता है।

पंचतन्त्र से

रँगे सियार की कहानी

बात बहुत पुरानी है। किसी जंगल में चण्डरब नाम का एक सियार रहा करता था। एक बार उसे खाने को कुछ न मिला। भूख से वह व्याकुल हो गया। भूख मिटाने के लिए चुपके से वह शहर में घुस आया। भोजन की टोह में वह इधर-उधर घूम ही रहा था कि शहर के कुत्तों ने उसे देख लिया। देखते ही कुत्ते उस पर टूट पड़े। बेचारा सियार बड़ी आफत में फँस गया। प्राणों के भय ने भूख भुला दी। पास ही में रंगसाज का नीले रंग से भरा नाँद रखा हुआ था। घबराहट के मारे सियार उसमें कूद पड़ा। कुत्ते बाहर उसके निकलने की इन्तजारी में खड़े हो गए। कुछ देर में ही वह नाँद से बाहर निकल आया। कुत्तों ने उसे देखा तो वे ठगे-से रह गये। अब उस पर नीला रंग चढ़ चुका था। कुत्ते अपनी मूर्खता पर खुद ही शर्मिन्दा हुए। वे इधर-उधर बिखर गये।

उसी हालत में रँगा सियार अपने घर जंगल की ओर सिर पर पैर रख कर भागा। उसने सोचा, 'जान बची लाखों पाया।' जंगल में उसे सदा की तरह बाघ, हाथी, गैड़े और शेर सभी जानवर मिले। लेकिन यह क्या? उसने महसूस किया कि जो भी जानवर उसे देखता, डर के मारे वहाँ से अलग हो जाता। रँगे सियार से न रहा गया। वह पूछ ही बैठा, 'अरे भाई-बन्धुओं, आप लोग मुझे देखकर क्यों भागे जा रहो हो। डरो मत! यहाँ मेरे पास आओ। मुझे ब्रह्माजी ने तुम्हारा राजा बनाकर भेजा है। मैं तीनों लोकों का राजा हूँ। मेरी छत्रछाया में तुम निर्भय होकर विचरो।'

रँगे सियार की बातों को सुनकर शेर, चीते आदि जंगल के जानवरों ने कहा, 'महाराज, हम सब आपके सेवक हैं। हमें आप हुक्म दें। धनभाग हमारे कि आप हमारे राजा होकर आये।'

सियार ने जंगल के जानवरों को अलग-अलग काम सौंपे। शेर को उसने अपना

मन्त्री बनाया, बाघ को बिस्तर बिछाने वाला सेवक, गैंडे को पान देने वाला, और भेड़िया को चौकीदार। उसके रास्ते में अभी एक रुकावट थी। वह जानता था कि अगर कभी भण्डाफोड़ होगा तो उसके सजातीय सियारों द्वारा। उसने अपना रास्ता साफ कर देना ही ठीक समझा। उसने एक हुक्म निकाला कि जितने भी सियार इस जंगल में हैं उन्हें गला पकड़ कर बाहर कर दिया जाय।

इस तरह रँगा सियार मजे में राज-काज करता गया। शेर आदि जितने जानवर थे, वे रोज शिकार करके लाते, उसे अपने राजा के सामने रख देते। राजा सुन्दर शिकार खुद रख लेता और बाकी सब में बाँट देता। अपने मन्त्री शेर के जरिये वह अपने हुक्मनामों को जंगल के जानवरों तक पहुँचाता। वह किसी से ज्यादा नहीं बोलता था। गम्भीर बना रहता था। सभी प्रकार से उसका आतंक छा गया था। उसके नाम से सभी काँपते थे। भला उनकी क्या मजाल कि ब्रह्माजी ने जिस राजा को बनाकर भेजा है उसके सामने वे सिर झुका कर न रहें?

दिन बीतते गये। राजा का रंग गहरा होता गया। सब उसकी सेवा करते। फिर भी सबके मन में ही हर समय एक कसक बनी रहती। उनको अपने राजा की रीति-नीति अजीब मालूम होती। वे सोचते, हमारे इतने बड़े राजा के ऐसे छोटे विचार क्यों? लेकिन बाहर वे कुछ न बोलते। एक ओर उन्हें धर्म-भय और दूसरी ओर प्राण-भय।

उधर जंगल के सारे सियारों को एक-एक करके बाहर कर दिया गया था। उन्हें बिना कारण अपना यह खुला अपमान बहुत अखरा। पहले तो उन्होंने सोचा जिसके यहाँ शेर पानी भर रहे हैं, भेड़िए चक्की पीस रहे हैं उसका मुकाबला करने की हमारी बिसात ही क्या है? लेकिन उन्होंने आपस में मिलकर सलाह-मशवरा किया। वे अपने अपमान का बदला न सही, अपने प्रति किये गये अन्याय की अपील तो राजा से कर ही सकते थे। देशनिकाले इन सियारों ने राजा के रंग-ढंग पर गौर से विचार किया। उसके चाल-चलन को बारीकी से निरखा-परखा। उनमें से एक बूढ़े सियार ने कहा, 'भाइयों, हो न हो, इसमें कोई चाल जरूर है।'

दूसरे सियार ने कहा, 'मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि वह राजा-वाजा कुछ नहीं। कोई चालबाज जानवर है। इसीलिए पोल खुल जाने के डर से वह बातचीत कम करता है। यही कारण है कि वह बाहर भी कम निकलता है। हर समय छिपा ही रहता है।'

'अरे भाइयों सुना,' तीसरे सियार ने कहा, 'मुझे लगता है कि वह हमारी ही जाति का कोई धूर्त है। तुमने देखा नहीं, हमसे वह कितना कतरा रहा था।'

इन सियारों ने मिल कर एक बात तय की। अपनी बात का भेद उन्होंने खोला नहीं। सुबह होते ही वे राज-दरबार के पास एक जगह इकट्ठे हुए उन्होंने एक साथ आवाज मिलाकर ऊँचे स्वर में रोना शुरू किया। इधर उनकी आवाज राजा रँगें सियार ने सुनी। वह अभी-अभी बिस्तर से उठकर आया ही था। इस सुहानी प्रभातबेला में अपने सजातीय सियारों का स्वर सुनकर उसका दिल दहल उठा। बहुत दिनों से वह अपने स्वर में न बोल पाया था।

इतने में ही इधर से सियारों ने दूसरा राग अलापा। राजा का रहा-सहा धीरज जाता रहा। वह खुशी और आनन्द में बावला हो उठा। उसने भी स्वर में स्वर मिलाकर लम्बी टेर में अलापना शुरू किया।

फिर क्या था? शेर, बाघ, चीता, आदि जानवरों को असली भेद मालूम हो गया। वे सभी उस ओर झपटे। सियार भागना ही चाहता था कि जानवरों ने उसे पकड़ लिया। सभी ने उसके टुकड़े-टुकड़े कर डाले।

इस तरह रँगे सियार का अन्त हुआ। सच ही है, जिसने अपने भाई-बन्धुओं को छोड़ दिया, परायों को अपना बनाया, उसका ऐसा ही दुःखद अन्त होता है।

हितोपदेश से

गीध और बिलाव की कथा

गंगा के किनारे गृध्रकूट नामक पर्वत पर एक बहुत बड़ा बरगद का पेड़ था। उसकी खोह में जगरदेव नाम का एक गीध रहा करता था। वह बूढ़ा और अन्धा हो गया था। उस पेड़ पर रहने वाले पक्षी दया करके उसको खाना दे दिया करते थे। इस तरह जीवन बिताता हुआ वह उनके बच्चों की रखवाली करता था।

एक दिन दीर्घकर्ण नाम का एक विलाब वहाँ आया। उसको देखते ही पक्षियों के बच्चे घबराहट के मारे आवाज करने लगे। इस पर गीध ने कहा, 'कौन है? यहाँ क्या करने आए हो?'

गीध को देखकर बिलाव घबरा गया। उसने सोचा, 'अब मारा गया। लेकिन जो हो, इसका उसको विश्वास दिलाना ही होगा।' वह पास गया। उसने गीध से कहा, 'महाराज, मैं आपको नमस्कार करता हूँ। मैं बिलाव हूँ।'

यह सुनते ही गीध बोला, 'दूर हट जा। नहीं तो मैं तुझे अभी मार डालूँगा।'

बिलाव बोला, 'महाराज, पहले मेरी बात सुन लें। तब दोषी समझें तो मारें। मैं गंगा-किनारे हमेशा नहाने के लिए आता हूँ। ब्रह्मचारी हूँ और चान्द्रायण व्रत लिये हूँ। आप बड़े ज्ञानी और धर्मात्मा हैं। सभी पक्षी मुझसे ऐसा कहते हैं। आपको धर्मात्मा जानकर आपसे मैं धर्म-चर्चा करने आया हूँ। वैसे भी आप मुझसे विद्या और बुद्धि में बड़े हैं। आप महान् हैं। इस पर भी मुझ अतिथि को मारने के लिए तैयार हैं। आप तो जानते ही हैं कि अपने को काटने के लिए आये मनुष्य को भी पेड़ अपनी छाया देता है। चन्द्रमा बिना सोच-विचार किये ब्राह्मण और चाण्डाल दोनों के घर में एक जैसा प्रकाश करता है। जिस घर से मेहमान निराश होकर जाता है उसे पाप तो लगता ही है, इसके अलावा उसके सब पुण्यों को भी साथ ले जाता है। अतिथि तो देवता होता है।'

बिलाव के इन उपदेशों को सुनकर गीध ने कहा, 'बिलाव मांस का भूखा होता है। यहाँ पर पक्षियों के बच्चे हैं। इसलिए मैं ऐसा कहता हूँ।'

पक्षियों के लोभ की बात सुनकर बिलाव धरती छू कर और कान पकड़ कर बोला, 'मैंने धर्मशास्त्र को पढ़कर ही इस चान्द्रायण व्रत को धारण किया है। धर्मशास्त्र

ही हमें बताते हैं कि 'अहिंसा सब धर्मों में सबसे बड़ा धर्म है।' किसी प्रकार की हिंसा न करने वाले और सबको जगह देने वाले प्राणियों को सीधे स्वर्ग मिलता है। जंगल में स्वतन्त्रता से रहते हुए जो घास खाकर अपना पेट भर लेता है, इस पापी पेट के लिए भला वह किसी की हिंसा क्यों करेगा?'

इस तरह गीध को पूरा यकीन दिलाकर वह बिलाव भी उस पेड़ के एक कोटर में रहने लगा। कुछ दिन बाद छिपे-छिपे वह चिड़ियों के बच्चों को मारने लगा। अब हरएक दिन वह चिड़ियों के बच्चों को मार कर खा जाने लगा। जिनको अपने बच्चे घोंसलों में न मिलते वे चिड़िया दु:खी होकर उन्हें इधर-उधर खोजते फिरते।

बिलाव को भी अब यकीन हो गया कि वहाँ रहना खतरे से खाली नहीं है। एक दिन वह चुपके ही वहाँ से नौ-दो ग्यारह हो गया। उसके एकाएक गायब हो जाने के बाद चिड़ियाँ उसके कोटर में गयीं। वहाँ उन्होंने अपने बच्चों के पंख पड़े हुए पाये।

चिड़ियों को बिलाव पर नहीं, बूढ़े गीध पर शक हुआ। उन्होंने सोचा इसी ने हमारे बच्चों को मारा है। पक्षियों ने मिलकर बेचारे बूढ़े गीध को मार डाला।

इस कथा के अन्त में नारायण पण्डित ने लिखा है, 'जिसके कुल-शील का अता-पता नहीं, उसे जगह नहीं देनी चाहिए। अगर कोई ऐसा करता है तो वह बूढ़े जरद्गव गीध की तरह वे मौत मारा जाता है।'

कथासरित्सागर से

स्वर्ग के लड्डू

एक मठ में बहुत-से मूर्ख रहा करते थे। उनका मुखिया बड़ा बहुरुपिया था। एक दिन वह ऐसी जगह जा पहुँचा जहाँ कथा हो रही थी। उस दिन व्यासजी ने अपनी कथा में सुनाया कि जो कोई भी धर्मात्मा पुरुष इस जगह पर तालाब खुदवाता है, उसे परलोक में बड़ा फल मिलता है।

इस कथा को सुनकर मूर्खराज मुखिया के मन में यह इच्छा पैदा हुई कि क्यों न एक तालाब बनवा कर परलोक का सुख प्राप्त करूँ? धन की उसके पास कमी नहीं थी। देखते ही देखते उसने व्यासजी के कहे स्थान पर बड़ा भारी तालाब खुदवा दिया। कुछ दिनों में तालाब बन कर तैयार हो गया।

मूर्खराज मुखिया एक दिन बड़ी उमंग से अपना तालाब देखने आया। वहाँ वह क्या देखता है कि तालाब की बालू बिखरी हुई है। दूसरे दिन भी उसने जाकर देखा कि तालाब के किनारे का एक हिस्सा किसी ने उधेड़ डाला है। तब तो उसके मन में बड़ी चिन्ता हुई कि यह क्या बात है। रोज-रोज ऐसा कौन करता है। 'अच्छा, कल मैं बड़े तड़के ही आ जाऊँगा। भोर से लेकर सायंकाल तक यहीं बैठा रहूँगा। देखूँगा कि यह किसकी करामात है।' इतना सोचकर वह घर चला गया।

दूसरे दिन वह बड़े तड़के ही तालाब पर आ जमा। थोड़ी ही देर में उसने देखा। आकाश से एक वृषभ (बैल) उतरा और तालाब का किनारा खोदने लगा। यह देखकर

उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। कुछ समय तक मूर्खराज बैल को वैसे ही एकटक देखता रहा। एक-एक करके उसके मन में विचार आया। उसने सोचा निश्चय ही यह कोई स्वर्ग का बैल है। इसलिए क्यों न इसके साथ स्वर्गलोक की सैर की जाय। इतना सोचकर छिपे-छिपे वह वृषभ के पास गया। जाते ही उसने कस कर उसकी पूँछ पकड़ ली। वृषभ चौंका। उसने अपनी पूँछ छुड़ाने के लिए बड़ी कोशिश की। लेकिन उसकी हठ को जानकर वृषभ भगवान् मूर्खराज के लिए ऊपर उठे और क्षण भर में ही अपने लोक कैलाश धाम में पहुँच गए। ऊपर कैलाश धाम में खाने-पीने का अच्छा प्रबन्ध था। वहाँ के लड्डुओं का तो कहना ही क्या। मुखिया को जब वे खाने को मिले तो उसकी तबीयत फिर लौटने की न हुई।

इधर वृषभ भगवान् हरएक दिन कैलाश से उतर कर भू-लोक की सैर करते। मुखिया मूर्खराज कैलाश के अच्छे-अच्छे भोजनों को खाकर जब अघा गया तो एक दिन उसे अपने भाई-बन्धुओं को देखने की लालसा हुई। उसने विचारा कि वृषभ भगवान् की पूँछ पकड़ कर अपने घर को हो आऊँ। फिर उसी तरह यहाँ चला आऊँगा। उसने वृषभ भगवान् से भू-लोक पर चलने की प्रार्थना की। वृषभ भगवान् ने उसकी बात मान ली। वह जैसा गया था, वैसा ही धरती पर उतर आया।

धरती पर उतरते ही वह उमंग से अपने मठ की ओर लपका। मठवासी मूर्खमण्डली को एकाएक ही अपने मुखिया को इतने दिनों बाद अपने बीच पाकर बड़ी खुशी हुई। उन्होंने उसको चारों ओर से घेर लिया और उसको भेंटने लगे। बड़े चाव से उन्होंने अपने मुखिया की इतने दिनों की यात्रा का हाल पूछा। मुखिया ने अपना सारा वृत्तान्त क्रमवार कह सुनाया?

अपने मुखिया की बातों को सुनकर सारे मूर्ख बड़े खुश हुए। उन्होंने भी कैलाशधाम जाने और भरपेट लड्डू खाने की अपनी इच्छा अपने मुखिया के सामने रखी। इस पर मुखिया ने उन्हें धीरज बँधाया। बहुत जल्दी ही उन्हें कैलाशधाम को ले जाने की तसल्ली दी। उसने कहा, 'देखो मेरे साथियो, जब वह बैल फिर आयेगा तो मैं तुरन्त ही उसकी पूँछ पकड़ लूँगा। तुममें से एक मेरी टाँगे पकड़ लेना। फिर दूसरा उसकी टाँगों पर तुल जाना। इसी प्रकार सब एक-दूसरे की टाँगों पर लटक जाना। हम सभी एकसाथ उड़ चलेंगे और थोड़ी ही देर में कैलाश पहुँच जायेंगे।'

इस तरह अपनी बात को ठीक से समझा कर मुखिया अपने साथियों सहित तालाब के किनारे आ डटा। अपने समय पर वृषभ महाराज धरती पर उतरे। उसको देखते ही मुखिया लपक कर भागा और उसने बैल की पूँछ कस कर पकड़ ली। इतने ही में दूसरा, तीसरा और चौथा; जितने भी वे थे, एक-दूसरे की टाँगों पर लटक पड़े। उनकी एक बड़ी भारी कतार बन गयी। वृषभ महाराज इस कदर बड़ी आफत में फँस गये। वे बड़े हड़बड़ाए। लेकिन भक्तों की हठ से लाचार होकर उन्हें उड़ना ही पड़ा।

आकाश में बैल की पूँछ पकड़े इन मूर्खों को जिसने भी देखा वही हँसते-हँसते लोट-पोट हो गया। मूर्खमण्डली अपनी इच्छा पूरी हुई जानकर भीतर ही भीतर खुश

हुई। आकाश पर उड़ते हुए वे धरती की सुन्दर छटा देखकर फूले न समा रहे थे। उन्हें धरती के सभी मनुष्य बड़े ही छोटे और तुच्छ दिखाई दे रहे थे। स्वर्ग के लड्डू खाने की याद से ही उनके मुख में पानी भर रहा था।

उनमें से एक मूर्ख इस भीतरी खुशी को खोल ही बैठा। उसने अपने मुखिया से पूछा, 'महन्त जी। यह बतलायें कि स्वर्ग में आपने जो लड्डू खाये हैं वे कितने बड़े-बड़े थे।'

मुखिया जी खुशी और आनन्द में फूले हुए थे। उन्हें तन-मन की कुछ भी सुध नहीं थी। वे अपने साथियों को स्वर्गलोक की बातों को बताने में सब कुछ भूल गये थे। अचनाक ही अपने साथी की इस बात को सुनकर उन्होंने हाथों से लड्डू की शक्ल को ज्यों ही बताना चाहा कि वे सबके सब बैल की पूँछ से छूट कर धड़ाम से धरती की ओर लुढ़क पड़े। गिरते ही सभी मूर्ख सीधे ही स्वर्गधाम पहुँच गए। स्वर्ग के लड्डुओं की लालसा ने उनके प्राण के लिये। इस कौतुक को देखकर लोग ठहाका मार कर हँसने लगे।

□□

७

काश्मीर का अवदान : कल्हण

संस्कृत की इस कहानी को 'पंचतन्त्र', 'हितोपदेश' और 'कथा सरित्सागर' ने नया मोड़ दिया। उसको नयी जीवनी-शक्ति दी, जिससे कि जनमत में उनका प्रचार-प्रसार हुआ। उनकी यह लोकप्रियता इतनी बढ़ी कि न केवल अपने देश में, बल्कि विदेशों में भी उनको अपनाया और सराहा गया।

ऐसा ही एक सराहनीय कार्य संस्कृत में और हुआ। उसका श्रेय है कल्हण पण्डित को। कल्हण काश्मीर के निवासी थे। उस काश्मीर के, जो कि पिछले कई सौ वर्षों तक विद्या और धर्म का केन्द्र बना रहा। जिस धरती ने संस्कृत को बड़े-बड़े लेखक दिए, जिस धरती पर बड़े विद्वान्, प्रतापी और वीर राजा पैदा हुए। कल्हण उसी काश्मीर के अवदान या गौरव थे।

उनको यह गौरव उनकी पुस्तक 'राजतरंगिणी' के कारण मिला। सारे संस्कृत साहित्य में इस बेजोड़ पुस्तक को लिखकर कल्हण ने अपना नाम अमर किया। उनकी इस पुस्तक में काश्मीर के डेढ़ हजार वर्षों का इतिहास लिखा हुआ है। आज 'राजतरंगिणी' कल्हण और काश्मीर की ही नहीं, बल्कि भारत और भारतीय संस्कृति की महान् थाती है।

कविता की भाषा में इतिहास की सच्ची घटनाओं को बाँधना कोई सरल काम न था। अपने इस कार्य की कठिनाइयों का जिक्र कल्हण ने खुद ही किया है। आदिकवि वाल्मीकि ने 'रामायण' के रूप में संस्कृत को अजर-अमर वरदान दिया। कल्हण ने 'राजतरंगिणी' लिख कर वही बेजोड़ मिसाल सामने रखी। कविता की भाषा में कथा की रोचकता के साथ-साथ इतिहास के तथ्यों को गूँथ कर कल्हण ने संस्कृत को एक अनमोल रत्न दिया। इस अनमोल रत्न को पाकर संस्कृत की इस कहानी में चार-चाँद लग गये।

कल्हण और उनका युग

जीवनी और समय

कल्हण का नाम संस्कृत के कुछ इने-गिने कवियों में है। वे काश्मीर के ही अवदान या गौरव नहीं, सारे देश के सिरमौर हैं। भारतीय साहित्य को उन्होंने एक ऐसी रोशनी दी, जिसने उसका कोना-कोना जगमगा दिया। संस्कृत भाषा को उन्होंने नया आलोक दिया, नयी राहें दीं।

वे आज नहीं रहे लेकिन अपने देशवासियों के मन पर उनकी छाप अमिट है। उन्होंने एकसाथ दो कार्य किये। एक ओर तो संस्कृत साहित्य के इतिहास की बुझती हुई रोशनी को फिर से चमकाया और दूसरी ओर आगे की पीढ़ियों के लिए नया रास्ता बताया। वे इस देश की पुरानी परम्परा के पोषक और नयी परम्परा के पिता थे। वे एक ऐसे सेतु या पुल थे, जिन्होंने दो युगों को एकसाथ मिलाया।

काव्य, नाटक और कथाएँ हमारे साहित्य की पुरानी थाती थीं। उनके बारे में हमें पर्याप्त जानकारी थी। लेकिन इतिहास क्या होता है। उसे कैसे लिखा जाता है। उसको लिखने के लिए क्या-क्या साधन चाहिए। और उसको लिखने का क्या लाभ है। इन सारी बातों को पहले-पहल हमें कल्हण ने ही बताया। इतिहासकार के कार्यों और जिम्मेदारियों की बातें भी हमें उन्हीं से मालूम हुईं।

कल्हण ने संस्कृत की एक बड़ी भारी कमी को पूरा किया। उनकी इस सूझ-बूझ और साहस की सारे संसार के इतिहासकार प्रशंसा करते हैं। संस्कृत को उन्होंने एक महान् और नयी विरासत दी। इसलिए वे काश्मीर के ही नहीं, सारे देश के गौरव माने गये।

जहाँ तक कल्हण की जीवनी का प्रश्न है, उनके बारे में कुछ ही बातें जानने को मिलती हैं।

वे काश्मीर में पैदा हुए थे। पारिहसपुर उनका जन्मस्थान था। ११०० ई. में, अर्थात् आज से नौ-सौ वर्ष पहले, वे पैदा हुए। राजा जयसिंह के समय तक वे जीवित रहे। राजा जयसिंह ने ११२९ से ११५० ई० तक राज्य किया। 'राजतरंगिणी' के बावन राजाओं में राजा जयसिंह ही आखिरी राजा थे।

कल्हण के पिता का नाम चम्पक था। वे भी बड़े विद्वान् थे। उनके चाचा का नाम कनक था। वे भी बड़े पण्डित थे। कल्हण के पिता महाराज हर्ष के महामात्य और चाचा राजकवि थे। कल्हण के गुरु का नाम अलकदत्त था। वे शैव मत को मानते थे और बौद्ध-धर्म में उनका उतना ही आदर था।

राजतरंगिणी

कल्हण के नाम को अमर बनाने वाली उनकी एकमात्र पुस्तक है। उसका नाम है 'राजतरंगिणी'। 'राजतरंगिणी' अर्थात् राजाओं की नदी। कल्हण ने उसे दक्षिण की गोदावरी नदी बताया है। गोदावरी नदी की अनेक तरंगें जैसे उसकी महिमा को बताती हैं उसी प्रकार 'राजतरंगिणी' की आठ तरंगें भी काश्मीर के राजाओं की महिमा का बर्खान करती हैं।

'राजतरंगिणी' इतिहास की पुस्तक है। उससे पहले और उसके बाद भी संस्कृत में इतिहास पर पुस्तकें लिखी गयीं। लेकिन 'राजतरंगिणी' की तुलना किसी से नहीं की जा सकती है। सारे संस्कृत-साहित्य में वह बेजोड़ पुस्तक है। उसे कल्हण ने दो वर्षों में लिखा। ११४८ ई० में उसको उन्होंने लिखना शुरू किया था और ११५० ई० में पूरा किया।

अपनी इस बात को लिखने के लिए कल्हण को अनेक तरह की सामग्री जुटानी पड़ी। कई पुस्तकें उन्होंने पढ़ीं। उनकी संख्या ग्यारह थी। वे सभी इतिहास की थीं। 'राजतरंगिणी' में उन्होंने उनका नाम गिनाया। है। वे सभी पुस्तकें अब नहीं मिलती हैं। इसके अलावा उन्होंने सैकड़ों दान-पत्रों, प्रशस्तियों, शिलालेखों, सिक्कों और हस्तलिखित पोथियों को भी बारीकी से देखा है। उस युग के लिए यह कार्य बड़ी मेहनत का था।

जैसा कि ऊपर बताया गया है 'राजतरंगिणी' में आठ तरंगें हैं, याने आठ अध्याय या पाठ। पहली चार तरंगों में पुराण-काल से लेकर नागवंश के राजाओं का इतिहास बताया गया है। पाँचवीं तरंग में वर्मावंश के राजाओं का हाल है। छठीं तरंग में पशकर राजा से लेकर छिदा नाम की रानी तक का इतिहास है। सातवीं तरंग में अनन्त-कलश और हर्ष जैसे यशस्वी राजाओं का वर्णन है। अन्त की आठवीं तरंग में उज्जव, सुस्सल और जयसिंह आदि राजाओं का हाल बताया गया है।

अपनी इस् पुस्तक में कल्हण ने पुराण-काल से लेकर १२वीं सदी तक का इतिहास लिखा है। यह इतिहास लगभग डेढ़ हजार वर्षों का है। उसमें काश्मीर के बावन राजाओं का इतिहास कहा गया है। इन बावन राजाओं में राजा गोनन्द से लेकर राजा सुस्सल के पुत्र राजा जयसिंह के बारे में बताया गया है। इन डेढ़ हजार वर्षों के भीतर काश्मीर के जितने राजा हुए उनका वर्ष, महीना और दिन का हिसाब बैठाया गया है। विश्व साहित्य में इतिहास लिखने का यह तरीका नया ही नहीं, प्रशंसनीय भी है। कल्हण के इस कार्य को इसलिए भी सराहा गया है कि उन्होंने इतिहास की बातों को गद्य में नहीं, बल्कि पद्य में लिखा है। सच्ची घटनाओं और तारीखों को कविता में बैठाना जितना कठिन है उतना गद्य में नहीं।

अपने इस कठिन कार्य को उन्होंने खुद ही महसूस किया। उन्होंने लिखा है, 'हो सकता है, मेरी इस पुस्तक को भारवि और माघ जैसे कवियों की पुस्तकों की तरह उतना न सराहा जाय। उसका कारण यह है कि मुझे लम्बी-चौड़ी वैतरणी या नदी जो पार करनी थी। फिर भी इस जिम्मेदारी के कार्य को पूरी तरह निबाहने में मैंने कुछ भी बाकी न रखा।'

कल्हण ने काश्मीर के इतिहास को बताने में ही अपना ध्यान रखा। लेकिन उसमें अपने-आप ही वहाँ के सारे जन-जीवन का अपनापन निखर उठा। काश्मीर भूमि की रमणीय प्रकृति की शोभा उसमें खिल उठी। वहाँ के पर्वत, नदी, नाले, झरने, झील, नगर गाँव, मठ, मन्दिर और फूल-फलों की सुन्दर झाकियाँ अनायास ही जगमगाने लगीं। इस माने में 'राजतरंगिणी' काश्मीर का विश्वकोश बन गयी।

कल्हण ने इतिहास की संकरी पंगडण्डियों पर काव्य की जो सरस धारा बहाई उससे इस देश का जन-मानस तृप्त हो गया। काव्य और इतिहास का जो सुन्दर मेल कल्हण ने किया है उसकी तुलना नहीं।

एक सच्चे इतिहासकार की तरह कल्हण ने जीवन के हर हिस्से को बड़ी

बारीकी से देखा। एक इतिहासकार को जैसा निडर और सच्चा होना चाहिए, पक्षपात से अछूता होना चाहिए, कल्हण की लेखनी में ये सभी बातें देखने को मिलती हैं। जिस राजा हर्ष के दरबार में वे रहे उसके जीवन और शासन के बारे में भी उन्होंने कोई पक्षपात नहीं किया। हर्ष की भलाइयों की ही तरह बुराइयों को खुल कर कहा। एक इतिहासकार की उन्होंने पूरी जिम्मेदारी निभाई। यही बात राजा जयसिंह के बारे में भी देखने को मिलती हैं।

'राजतरंगिणी' के शुरू में उन्होंने अपनी सफाई देते हुए लिखा है—

'कथा बहुत लम्बी न हो जाय, इस डर से मैं बहुत सी बातों को नहीं कह पाया। फिर भी मैंने जगह-जगह पर बहुत सारी बातों को कह दिया है। उनसे पाठकों का मनोरंजन अवश्य होगा। वे कवि धन्य हैं, जिनकी वाणी में किसी तरह का कूट-कपट नहीं है। वे ही कवि सच्चे इतिहास को बता सकते हैं। जनता के सामने इतिहास की सच्चाइयों को रखना कोई सरल काम नहीं है। मैंने भरसक कोशिश की है कि अपने इस इतिहास में सच्ची बातों को कहूँ। मैंने पुराने इतिहासों का सार लेकर इसे लिखा है। मेरी इस पुस्तक से सभी पाठकों को आनन्द मिले, इसका मैंने पूरा ध्यान रखा है।'

उन्होंने लिखा है, 'इतिहासकार के अलावा ऐसा कौन है, जो भूतकाल की बातों को वर्तमान में लाकर रखे। उसकी सूझ-समझ बड़ी गहरी और नजरें बड़ी तेज होती हैं। वह उन बातों को देखता और समझता है, जिन्हें दूसरा नहीं देख और समझ पाता।'

कविता के बारे में कल्हण की अपनी अलग धारणा है। कविता को उन्होंने अमृतरस कहा है। 'इस अमृतरस को देने वाले कवियों का यश अमर हो जाता है। यहाँ तक कि इस अमृतरस का पान करने वाले पाठक भी अमर हो जाते हैं।'

एक इतिहास में जितनी बातें होनी चाहिए वे सब 'राजतरंगिणी' में हैं। कल्हण ने हरएक राजा की सल्तनत का वर्ष, महीना और दिन गिनाया है। इसके अलावा प्रत्येक राजा के समय की सामाजिक दशा कैसी थी इसकी भी चर्चा की है। प्रजा के लिए उसने क्या किया। प्रजा का उस पर कितना यकीन था। इन सभी बातों को खास तौर से बताया। काश्मीर में समय-समय पर जो उलट-फेर हुए उनका भी ब्यौरा दिया गया है।

इस पुस्तक में काश्मीर के राजाओं का इतिहास कहा गया है। लेकिन इसके अलावा भी उसमें कई बातें हैं। संस्कृत के कई कवियों के बारे में हम अनजान ही रह जाते, अगर कल्हण ने कुछ न कहा होता। इसी तरह कल्हण के इस इतिहास में ही हमें ऐसी पुस्तकों के नाम भी देखने को मिलते हैं, जो आज नहीं हैं।

जहाँ तक कल्हण की शैली का सवाल है, वह बड़ी ही रोचक है। उनका यह इतिहास एक उपन्यास की तरह है। जहाँ से खोलिए, पाठक उसमें डूब जाता है। उसके वर्णन बड़े मार्मिक हैं। कल्हण ने एक जगह नरक का वर्णन करते हुए लिखा है—

'जिस आदमी ने बिलखते हुए अपने पुत्रों को देख लिया, दूसरे की दासी बनी अपनी स्त्री को देख लिया, विपदा में पड़े हुए अपने मित्र को देख लिया, त्राण न मिलने

के कारण रँभाती हुई गाय को देख लिया, दवा-दारु न नसीब होने के कारण अन्तिम दम तोड़ते हुए अपने माता-पिता को देख लिया, और अपने स्वामी को लड़ाई में हारते हुए देख लिया, उसे मरने के बाद नरक में इससे बदतर क्या देखने को मिलेगा?'

'राजतरंगिणी' काश्मीर का इतिहास होते हुए भी इस देश की पुरानी संस्कृति का दर्पण है। उसमें प्राचीन भारत के धर्म, रहन-सहन, समाज और राजनीति के सजीव चित्र देखने को मिलते हैं। उस युग के रीति-रिवाजों का बहुत सुन्दर चित्रण भी उसमें देखने को मिलता है।

काश्मीर का अब तक जो महत्व था, आज भी उसका उतना ही महत्व है। काश्मीर की यह पुरानी कहानी देश के आज के जीवन से जुड़ गयी है। आज नये काश्मीर का जन्म हो रहा है। उसका इतिहास बहुत बदल रहा है। इस नये इतिहास के बारे में भी कुछ जान लेना चाहिए।

काश्मीर की विशेषता

जिस काश्मीर में कल्हण पैदा हुए उसके बारे में भी कुछ जान लेना जरूरी है। अपनी 'राजतरंगिणी' में कल्हण ने काश्मीर देश के इतिहास की विशेष चर्चा की है। पुस्तक के शुरू में उन्होंने लिखा है—

'हिमालय पर सतीसर नाम का एक बहुत बड़ा तालाब था। वहाँ जलोद्भव नाम का एक राक्षस रहता था। जलोद्भव उसका इसलिए नाम पड़ा कि वह उसी तालाब से पैदा हुआ था। उससे भी पहले कश्यप ऋषि उस सतीसर तालाब के पास तप करते थे। कश्यप ऋषि सूर्य भगवान् के पिता थे।

एक बार कश्यप ऋषि ने ब्रह्मा, विष्णु और शिव से प्रार्थना की कि वे उस राक्षस को मार दें। यह प्रार्थना उन्होंने इसलिए की कि वह राक्षस ऋषि को कई तरह की यातनाएँ दे रहा था। ऋषि के कहने पर तीनों देवताओं ने राक्षस को मार दिया।

उसके बाद कश्यप ऋषि ने उस सतीसर तालाब के चारों ओर एक नगर बसाया। कश्यप ऋषि के द्वारा बसाये गये इस नगर को बाद में काश्मीर नाम दिया गया। नागों के राजा नीलनाग ने उस नगर की रक्षा का जिम्मा लिया। पार्वतीजी ने उस पर अपनी कृपा बनाये रखी।

धीरे-धीरे यह काश्मीर स्वर्गपुरी बन गया। अनेक तरह की मणि-मुक्ताओं और रत्नों से वह भरपूर हो गया। वहाँ पाप का नाम नहीं। धर्म और पुण्य ही देखने को मिलते हैं। सरस्वती वहाँ स्वयं विराजमान है। चारों ओर बने मन्दिर देखने को मिलते हैं। वे सभी तीर्थ बन गये।

इस काश्मीर की धरती को केवल पुण्य के बल पर ही जीता जा सकता है। सेना और अस्त्र-शस्त्र से उसे नहीं जीता जा सकता। वहाँ के रहने वाले लोग अगर किसी बात से डरते हैं तो परलोक से। किसी तरह के शत्रु या दुश्मन की उन्हें कोई परवाह नहीं है।

इस काश्मीर भूमि की महिमा ही अपार है। सूर्य के पिता कश्यप ऋषि ने उसे

बनाया और बसाया। इसलिए गरमी के दिनों में सूर्य उसे तपाता नहीं। वहाँ बड़े-बड़े विद्यापीठ हैं। वह तरह-तरह के फल-फूलों से शोभित है। स्वर्ग के सभी भोग वहाँ मिल जाते हैं।

कल्हण ने काश्मीर का जो इतिहास बताया है उसमें तनिक भी झूठ नहीं है। पुराने जमाने की तरह आज भी उसकी ख्याति है।

काश्मीर को आज सैलानियों का स्वर्ग कहा जाता है। पिछले कई सौ वर्षों तक वह इस देश के सबसे बड़े ज्ञान-केन्द्रों में से एक था। विद्या और धर्म दोनों का वह तीर्थ माना जाता था। संस्कृत साहित्य में उसको विद्वानों की भूमि बताया गया है। आज जिस प्रकार हम धर्म की भावना से प्रेरित होकर तीर्थों में जाते हैं, उसी तरह पुराने जमाने में ज्ञान की भावना से प्रेरित होकर लोग काश्मीर जाया करते थे। काश्मीर इस देश का ज्ञानतीर्थ था।

संस्कृत साहित्य के लिए काश्मीर की बहुत बड़ी देन है। वहाँ कई कवि हुए। इतिहासकार हुए। आचार्य हुए। उन्होंने सैकड़ों पुस्तकें लिखीं। संस्कृत का सारा काव्यशास्त्र काश्मीर में ही लिखा गया। अगर इन सारी पुस्तकों को छाँट कर अलग किया जाय तो उस कमी को पूरा नहीं किया जा सकता है।

पण्डितों और विद्वानों की बात अलग है। वहाँ जितने राजा हुए उन्होंने भी पुस्तकें लिखीं। सच तो यह है कि श्री, याने लक्ष्मी और सरस्वती को यदि एकसाथ देखा जा सकता है तो वह काश्मीर भूमि से ही।

काश्मीर के काव्यप्रेमी एवं काव्यकार राजाओं में हर्ष, मातृगुप्त, प्रवरसेन, जयापीड, चन्द्रापीड, यशस्कर और जयसिंह का नाम इतिहास में अमर हैं।

काश्मीर के राजाओं के काव्यप्रेम और विद्वानों के लिए उनकी अभिरुचि के बारे में कल्हण ने कई बातें कही हैं। राजा जयापीड के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है-

'जिस प्रकार धरती में समा गयी वितस्ता नदी को कश्यप महर्षि ने काश्मीर में फिर से प्रकट कर दिया था, उसी प्रकार का काम राजा जयापीड ने किया। उसने काश्मीर देश में लुप्त हुई विधाओं को फिर से जीवित किया। उसने अपने दरबार में बड़े-बड़े विद्वानों को रखा। उनके जरिये देश में शिक्षा को फैलाया। देश के कोने-कोने से विद्वानों को काश्मीर में बुलाया। उनसे व्याकरण महाभाष्य का प्रचार करवाया। खुद भी उसको पढ़ा।'

विद्या और विद्वानों का उसे बड़ा शौक था। उसे राज-पद की अपेक्षा पण्डित पद अच्छा लगता था। अपने इस शौक को पूरा करने के लिए उसने सारे देश के विद्वानों को अपने यहाँ बुला लिया। उससे सारे देश में विद्वानों का अकाल पड़ गया।

विद्वान् दामोदर गुप्त उसका प्रधानमन्त्री था। आचार्य वामन उसका मन्त्री था। महापण्डित उद्भट उसकी राजसभा का सभापति था। उसे एक दिन का एक लाख दीनार वेतन दिया जाता था। इसके अलावा अनेक विद्वान् उसकी राजसभा के रत्न थे।

इसी तरह राजा हर्ष के बारे में कल्हण ने लिखा है, 'वह राजा लक्ष्मी के वश में

नहीं था। वह गुणी लोगों के वश में था। इसलिए उसके चारों ओर गुणी लोगों का जमघट लगा रहता था। उसके राज्य में धनियों की अपेक्षा गुणियों का दर्जा बड़ा था। राजा के पास गुणी लोग बेरोक-टोक आते-जाते थे।'

सच तो यह है कि काश्मीर के राजाओं और विद्वानों के नामों की सूची बहुत लम्बी है। उन्होंने जो काम किये वे भी कई तरह के हैं। काश्मीर की उसी लम्बी पण्डित परम्परा का अमर नाम प्रस्तुत किया है कल्हण ने, जो महाकवि और इतिहासकार दोनों हैं।

इस देश के इतिहास में काश्मीर ही एक ऐसा प्रदेश है, हरेक युग में जिसकी कोई न कोई विशेषता रही है। हमेशा की भाँति आज भी हमारे लिए उसका विशेष महत्व है। लेकिन आज उसकी जो स्थिति है वह पहले से कुछ अलग है। इतना ही नहीं, अब तक इतिहास में उसका जो रूप रहा है, आज की परिस्थितियों से उसका कोई मेल नहीं बैठता।

काश्मीर के बारे में ऊपर हम कई बातें पढ़ चुके हैं। इसके अलावा भी बहुत सारी बातें हैं। भारत के दूसरे प्रदेशों की अपेक्षा काश्मीर की हालत कुछ अलग है। हमारे लिए यह बड़ी खुशी की बात है कि इस देश के साथ उसके सम्बन्धों की परम्परा बहुत पुरानी है। उसका अपना इतिहास है। अपनी परम्पराएँ हैं। वे मौखिक नहीं लिखित हैं। हम जैसा चाहें, वैसा नहीं रह सकते हैं। उसके प्रमाण हैं, पक्के आधार हैं। उनको मानकर ही काश्मीर की समस्या को सुलझाया जा सकता है।

काश्मीर के इतिहास में हमारी इस शती ने एक नया अध्याय जोड़ा है। इस नये अध्याय की भूमिका ताशकन्द में लिखी गयी। हमारे स्वर्गीय प्रधानमन्त्री लालबहादुर शास्त्री के हाथों से उसका श्रीगणेश हुआ। भारतीय इतिहास में, और खास तौर से काश्मीर के इतिहास में हमारे इस देशभक्त और साहसी नेता का नाम स्वर्ण अक्षरों में लिखा जायेगा।

'राजतरंगिणी' में काश्मीर के बावन राजाओं का इतिहास कहा गया है। हरेक राजा के समय को घटनाओं को कल्हण ने बड़े सुन्दर तरीके पर सिलसिलेवार सजाकर रखा है। ये सभी घटनाएँ इतिहास की सच्चाइयों पर परखी और कसी गयी हैं। इतिहास से गुँथी होने पर भी वे इतनी सरस, सरल और दिलचस्प हैं कि एक बार शुरू करने पर आगे-आगे उनका चाव बढ़ता ही रहता है। उनको पढ़ते हुए मन ऊबता नहीं। उसका कारण यह है कि उनमें उपन्यास की रोचकता और कहानी की उत्सुकता, दोनों का समावेश है।

□□

८

उत्तरकालीन संस्कृत साहित्य

संस्कृत की इस कहानी में उत्कर्ष युग के अन्तिम महाकवि श्रीहर्ष और उनके 'नैषधचरित' के बारे में हम पीछे पढ़ चुके हैं। इस उत्तरकालीन संस्कृत साहित्य की पृष्ठभूमि की रचना श्रीहर्ष की कविता से ही हो चुकी थी। श्रीहर्ष से पहले कविता के दो रूप सामने आ चुके थे। कविता का एक रूप वह था, जिसमें जन-मन की भावना को महत्व दिया गया था। कविता का दूसरा रूप वह था, जिसमें करतब दिखाना और पण्डिताई बघारना ही सबकुछ समझा जाने लगा था। कविता का पहला रूप कालिदास, बाण और भवभूति की पुस्तकों में देखा जा सकता है। कविता का दूसरा रूप भारवि, माघ और श्रीहर्ष की पुस्तकों से सामने आया।

उत्तरकालीन संस्कृत साहित्य के अधिकतर कवियों ने श्रीहर्ष के आदर्श पर कविता लिखी। इसलिए बारहवीं शताब्दी के बाद का संस्कृत साहित्य अपकर्ष युग का सूचक है। कविता के रूप में कवियों का ध्येय अब कौशल तथा चातुरी दिखाना भर रह गया था।

उत्तरकालीन संस्कृत साहित्य की इन परिस्थितियों में भी कुछ कवि ऐसे अछूते रहे, जिन्होंने अपने को समय की धारा में नहीं बहने दिया। उन्होंने वाल्मीकि, कालिदास, बाण और भवभूति के महान् आदर्शों का अनुसरण किया। कविता की वाणी से लोकमानस को गुलजार बनाये रखने वाले इन महान् कवियों में जयदेव, बिल्हण और पण्डितराज जगन्नाथ का नाम अमर है। ये तीनों कवि संस्कृत की इस लम्बी कहानी के अन्तिम बिन्दु हैं।

जयदेव और उनका युग

जीवनी और समय

उत्तरकालीन संस्कृत साहित्य में जयदेव का नाम पहली श्रेणी के कवियों में है। उनके जीवन के बारे में दो-एक बातें ही जानने को मिलती हैं। वे बंगाल केन्दुबिल्व गाँव में पैदा हुए थे। उनकी माता का नाम रामादेवी या राधादेवी और उनके पिता का नाम भोजदेव था। उनकी स्त्री का नाम पद्मावती था। वह भी अपने पति की तरह पढ़ी-लिखी थीं। नाच-गाने में बड़ी निपुण थीं। बंगाल में आज की ही तरह तब भी लड़कियों को संगीत और नृत्य की शिक्षा दी जाती थी। जयदेव ने स्वंय लिखा है—

पद्मावतीचरणचारणचक्रवर्ती १-२

उनकी पत्नी उनके लिखे गीतों को ताल में बाँध कर नृत्य करती थीं।

जयदेव बंगाल के राजा लक्ष्मण सेन के राजकवि थे। बंगाल के सेनवंश का यह अन्तिम राजा हुआ। यह राजा कवियों और कविता का बड़ा शौकीन था। उसके दरबार में जयदेव के अलावा उमापतिधर, शरण, गोवर्द्धनाचार्य, श्रुतिधर और धोयी कवि रहा करते थे। अपने इन सहयोगियों के बारे में जयदेव ने कुछ बातें लिखी हैं। उन्होंने लिखा है कि उमापतिधर अच्छी पद-रचना करता था। गोवर्द्धन श्रृंगार रस का अच्छा कवि था। धोयी की विशेषता यह थी कि वह कविताओं का पिटारा था। कई कविताएँ उसको कण्ठस्थ थीं।

राजा लक्ष्मण सेन ने १११६ ई० के लगभग बंगाल पर राज्य किया। इसलिए जयदेव का समय आज से लगभग आठ सौ वर्ष पहले बारहवीं शती में माना जा सकता है।

गीतगोविन्द

जयदेव ने एक पुस्तक लिखी। उसका नाम है 'गीतगोविन्द'। इसी एक पुस्तक के कारण उनका नाम संस्कृत में अमर हो गया है।

'गीतगोविन्द' में बारह सर्ग हैं। इस आधार पर उसे महाकाव्य कहा जाना चाहिए। लेकिन महाकाव्य में जो बातें होनी चाहिए वे उसमें नहीं हैं। इसलिए उसे मुक्तक काव्य कहना ही उचित जान पड़ता है। मुक्तक, अर्थात् जिस काव्य की कथा में कोई सिलसिला नहीं होता। 'गीतगोविन्द' की कथा का आधार यद्यपि राधा-कृष्ण हैं, फिर भी उसको जयदेव ने इतिहास के आधार पर नहीं, अपनी कल्पना के आधार पर गढ़ा।

'गीतगोविन्द' की कथा में राधा-कृष्ण की प्रेम-लीलाओं के चित्र उतारे गये हैं। उनमें कहीं आशा है तो कहीं निराशा, कहीं वियोग है। तो कहीं मिलन। प्रेम में ईर्ष्या, कोप, विरह आदि की जितनी बातें होती हैं उन सबको इस कथा में उतारा गया है। कथा इस प्रकार है—

शुरू में श्रीकृष्ण को ब्रज की गोपियों के साथ रासक्रीड़ा करते हुए दिखाया गया है। गोपियों के साथ कृष्ण का इस तरह रास करना राधा को अच्छा नहीं लगता। उसे इस बात की जलन होती है कि उसको छोड़ दूसरी लड़कियों के साथ कृष्ण इस तरह क्यों नाच-गा रहे हैं। वे कृष्ण को अपनी ओर खींचने की कोशिश करती हैं। राधा की एक सखी कृष्ण के पास जाती है। वह राधा के प्रेम की बात बोलती है। लेकिन कृष्ण नहीं मानते। वे फिर भी राधा के पास नहीं जाते। राधा को इससे बड़ा दुःख होता है।

एक रात को जब सारी धरती चाँदनी में डूबी होती है, राधा गीत गाती है। अपने गीतों में वह कृष्ण के न मिलने की पीड़ा प्रकट करती है। इसी समय कृष्ण वहाँ आते हैं। राधा रूठ जाती है। वह कृष्ण से बात नहीं करती। राधा की सखी उसको मनाती है। मान छोड़ने को कहती है। वह उसी तरह रूठी रहती है। फिर कृष्ण उसको स्वंय ही मनाते हैं।

कृष्ण की बड़ी मनौती करने पर राधा मानती है। उसके बाद वे दोनों चाँदनी में घूमते हुए एक ओर अकेले में चले जाते हैं। वहाँ दोनों की प्रेम-भरी बातें होती हैं।

राधा अपना श्रृंगार करने के लिए कृष्ण से कहती है। कृष्ण अपने हाथों उसका श्रृंगार करते हैं।

यही 'गीतगोविन्द' की कथा है।

जयदेव की कविता

इस छोटी-सी कथा में जयदेव ने कविता का जो रस भरा है उसके कारण उनको उनके युग के कवियों में पहला दर्जा मिला। उनकी कविता में एकसाथ कई बातें हैं। उसमें पहली बात तो यह है कि उसे काव्य-प्रेमियों ने पसन्द किया। लेकिन उससे अधिक अपनाया संगीत के रसिक लोगों ने । जयदेव ने अपनी कविता में काव्य की मिठास भरी और साथ ही उसे संगीत के स्वरों में ढाला।

उन्होंने एक बात और की। अपनी कविता में उन्होंने जिस श्रृंगार और प्रेम को दर्शाया वह साधारण लोगों की रुचि का भी विषय बना और भक्त लोगों ने भी उसमें अपनी भक्ति भावना को पाया। इस रूप में उन्हें कृष्णभक्त कवि माना जाने लगा और उसी पंक्ति में उन्हें गिना गया।

जयदेव की कविता में लोक-जीवन की वाणी है। उनकी कविता पर बंगाल के उत्सवों और त्योहारों का प्रभाव है। बंगाल में यात्रा उत्सव के समय नाच-नाच कर गीत गाने का रिवाज आज भी है। लोक के इन्हीं नाच-गीतों को जयदेव ने अपनी कविता में बाँधा। इस रूप में जयदेव की कविता सारे संस्कृत में अपनी ढंग की अनूठी साबित हुई। उसमें काव्य के साथ-साथ संगीत और अभिनय का भी पुट दिया गया। उनके पहले भी इस तरह के काव्य लिखे जा चुके थे। लेकिन उन्होंने लोक गीतों की धुन पर काव्य के भावों को सँवारा। उसमें संगीत की संजीदगी देकर एकदम नये रूप में सामने रखा। इसी कारण उनकी कविता को लोक ने अधिक अपनाया और लोक में उनका सम्मान हुआ।

जयदेव की गणना श्रृंगार और प्रेम के कवियों में की जाती है। अपनी कविता के लिए उन्होंने राधा-कृष्ण के प्रेम को अपनाया। इस रूप में श्रृंगारप्रेमी समाज का मन भी उन्होंने अपनी ओर मोड़ा और भक्त हृदय जनता के भी वे कवि कहलाये।

जयदेव की कविता में कल्पना का पुट है। भले ही उनकी यह कल्पना कालिदास और भवभूति के बराबर न हो। लेकिन उनके युग के भर्तृहरि और श्रीहर्ष की कविता से अवश्य ऊँची है। संस्कृत साहित्य में कालिदास ने 'ऋतुसंहार' और 'मेघदूत' लिख कर काव्यों में एक नये प्रकार का बीज बोया। इसे 'गीतिकाव्य' नाम दिया गया। 'गीतगोविन्द' इस परम्परा का सबसे सुन्दर काव्य है।

कुछ लोगों ने 'गीतगोविन्द' को 'गीति नाटक' कहा है। अर्थात् ऐसा नाटक जो कि गाकर स्टेज पर खेला जा सके। कुछ मानों में यह बात सही जान पड़ती है। लेकिन खुद उन्होंने उसको काव्य ही माना है।

जयदेव की कविता की कुछ लोगों ने आलोचना भी की है। उनका कहना है कि जयदेव ने राधा-कृष्ण के प्रेम में साधारण मनुष्यों के प्रेम की कल्पना करके कृष्ण-

भक्त लोगों के मन को ठेस पहुँचाई। लेकिन राधा-कृष्ण का यह प्रेम भक्ति का ही एक अंग है। उसे 'माधुर्य भक्ति' कहा जाता है। मधुर-भाव से राधा-कृष्ण की भक्ति करने के कारण ही 'माधुर्य भक्ति' का उदय हुआ। मनुष्य के प्रेम में क्षण भर का आनन्द होता है। लेकिन माधुर्य भक्ति से स्थायी आनन्द की प्राप्ति होती है। राधा-कृष्ण का यह प्रेम जीव और आत्मा के मिलन का दूसरा रूप है।

जयदेव की कविता में कुछ बातें और हैं। शब्दों और वाक्यों की जो सुन्दर छटा उसमें देखने को मिलती है, वैसी संस्कृत के दूसरे कवियों में नहीं है। इस माने में जयदेव को विश्व के कवियों में रखा जा सकता है। उन्होंने अपनी कविता के लिए ऐसे छन्द चुने, जो बड़े ही मधुर हैं और जिनको सुनते-सुनते मन नहीं अघाता, बल्कि लगातार सुनने को मन चाहता है। उनकी कविता की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि संस्कृत न जानने वाला भी उसको सुनने-मात्र से ही विभोर हो जाता है।

जयदेव की कविता की इन सभी बातों ने उनको जनता का कवि बना दिया। उनकी अकेली पुस्तक ने साहित्य को एक बड़ा भण्डार दिया। उस पर छोटी-बड़ी लगभग पैंतीस टीकाएँ लिखी गयीं। उसकी नकल पर लिखी जाने वाली पुस्तकों की संख्या तो इससे भी अधिक है।

ऐसा मालूम होता है कि जनता के मन में उनकी कविता ने घर बना लिया था। बंगाल में ही नहीं, देश के दूसरे छोरों में भी उनकी कविता उसी युग में अपनी जगह बना चुकी थी। उड़ीसा के राजा प्रताप रुद्रदेव ने तो अपने राज्य में यह मुनादी करा दी थी कि कोई भी नाचने-गाने वाला केवल 'गीतगोविन्द' के पदों को ही गा सकेगा। यह राजा १५वीं शती में हुआ।

संस्कृत साहित्य पर 'गीतगोविन्द' का जो प्रभाव पड़ा उसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। कला के क्षेत्र में भी उसको बहुत बड़े पैमाने पर अपनाया गया। मुगलों और राजपूतों के दरबारों में उनकी कविताओं को चित्रों के रूप में साकार किया गया। पूरे 'गीतगोविन्द' पर भी चित्र बने। राजपूत कलम, दक्षिण कलम, मुगल कलम और पहाड़ी कलम के कई चित्रकारों ने उसकी सुन्दर छवियाँ उतारीं। इस प्रकार चित्रकला को भी उसने प्रभावित किया।

संस्कृत के अलावा उसका प्रभाव हिन्दी साहित्य पर भी पड़ा। उसको आधार बनाकार हिन्दी के रीतिकाल के कवियों ने शृंगार तथा प्रेम की कई पुस्तकें लिखीं। भारत की अन्य प्रादेशिक भाषाओं में भी उसके आधार पर पुस्तकें लिखी गयीं।

बंगाल के जिस गाँव में जयदेव का जन्म हुआ था उसे आज 'जयदेवपुर' नाम से कहा जाता है। उनकी यादगार के लिए यह सराहनीय कार्य है। इस गाँव में आज भी हरेक वर्ष पौष माह की शुक्ला सप्तमी तिथि को जयदेव जयन्ती मनायी जाती है। उस दिन वहाँ एक मेला भी लगता है।

इस तरह जयदेव की कविता ने संस्कृत में ही नहीं, भारत के अन्य कवियों और लेखकों की रचनाओं में भी जगह पायी। जैसे संस्कृत कवियों को वैसे ही अन्य

भारतीय भाषाओं के कवियों को उससे प्रेरणा मिली। साहित्य की ही तरह वे लोक में भी अपनाये और सराहे गये। लोकजीवन को प्रभावित कर वे लोककवि कहलाये। लोकजीवन पर उनकी इतनी गहरी छाप अंकित हुई कि पिछले सैकड़ों वर्षों से लेकर अब तक उनकी यादगार में मेले लगते आ रहे हैं। लोग बड़े उत्साह और उमंग से इकट्ठे होकर अपने इस लोकप्रिय कवि की कविताओं को गाते और खुशियाँ मनाते हैं।

बिल्हण और उनका युग

जीवनी और समय

संस्कृत की इस कहानी में हमने पढ़ा कि अधिकतर कवियों ने अपने बारे में कुछ नहीं लिखा। इसलिए उनके जीवन के बारे में हमें कोई जानकारी नहीं मिलती। लेकिन बिल्हण उन कवियों में नहीं हैं। बाण की तरह उन्होंने भी अपने बारे में कई बातें बतायी हैं। अपनी इस जीवन-कथा को उन्होंने अपनी पुस्तक 'विक्रमांकदेवचरित' में लिखा है।

उनकी इस आत्मकथा से मालूम होता है कि वे काश्मीर में पैदा हुए थे। उनके समय प्रपरपुर काश्मीर की राजधानी थी। उसी के पास खोनमुख नाम का एक गाँव था। उसी गाँव में बिल्हण पैदा हुए।

उनके पिता का नाम ज्येष्ठकलश और उनकी माता का नाम नागदेवी था। इष्टराय और आनन्द उनके दो भाई थे। काश्मीर में ही उन्होंने पढ़ा-लिखा। उस समय काश्मीर को विद्या का केन्द्र माना जाता था। पढ़ाई पूरी करने के बाद वे मथुरा, काशी, कन्नौज और प्रयाग आदि शहरों में घूमे। ये शहर भी उस समय देश के नामी विद्या केन्द्रों में गिने जाते थे।

अपने समय के इन प्रसिद्ध नगरों का भ्रमण कर उन्होंने अपने लिए अनेक तरह के अनुभव बटोरे। अच्छे-अच्छे विद्वानों से मिलकर अपने ज्ञान को बढ़ाया। काफी जानकारी और ज्ञान प्राप्त करने के बाद उन्होंने अपने लिए अच्छे ठिकाने की खोज की। वे अनहिल नाद के राजा त्रैलोक्यमल के राजदरबार में गये। वहाँ उनको राजकवि का आसन मिला।

कुछ दिन बाद ही वे अपने लिए अच्छा ठिकाना खोजने के लिए वहाँ से भी निकल पड़े। वे कल्याण के चालुक्य राजा छठें विक्रमादित्य के यहाँ पहुँचे। उनकी प्रतिभा और जानकारी से प्रसन्न होकर राजा ने उनको अपना राजकवि बना दिया। उनको अपने दरबार की सबसे बड़ी उपाधि 'विद्यापति' से सम्मानित किया।

कल्याण के इस चालुक्य राजा छठें विक्रमादित्य का समय १०७६ से ११२६ ईसवी माना जाता है। इसी राजा के यहाँ रह कर बिल्हण ने अपनी सबसे बड़ी पुस्तक 'विक्रमांकदेवचरित' लिखी। इस पुस्तक को उन्होंने १०८५ ईसवी के आस-पास लिखा। इस आधार पर बिल्हण का समय ग्यारहवीं शती के बीच बैठता है। उसको बीते आज नौ सौ वर्षों का समय हो रहा है।

बाद के कवियों में बिल्हण का नाम इतना लोकप्रिय हुआ कि उन पर पुस्तकें लिखी गयीं। उनकी जीवनी को लेकर तंजोर के सुन्दरेश शर्मा ने 'प्रेमविजय' नाम से एक नाटक लिखा। इस नाटक को लिखे लगभग साठ-सत्तर वर्ष हो रहे हैं। इस नाटक में सुन्दरेश शर्मा ने बिल्हण की कहानी को बड़े अच्छे तरीके से सँजोया है।

बिल्हण की पुस्तकें

बिल्हण ने तीन पुस्तकें लिखीं। उनके नाम हैं— १. चौरपंचाशिका, २. कर्णसुन्दरी और ३. विक्रमांकदेवचरित।

चौरपंचाशिका

'चौरपंचाशिका' बिल्हण की पहली पुस्तक है। यह कालिदास के 'मेघदूत' के तरीके पर लिखी गयी है। यह छोटी-सी पुस्तक है। इस पुस्तक के बारे में एक कहावत है। कहा जाता है कि बिल्हण का किसी राजकुमारी से प्रेम हो गया था। इस अपराध के कारण राजा ने बिल्हण को फाँसी की सजा दे दी थी। उन्हीं दिनों बिल्हण ने 'चौरपंचाशिका' लिखी। इस पुस्तक में उन्होंने अपने प्रेम की कहानी को लिखा।

यह पुस्तक इतनी सुन्दर थी कि एक दिन उसकी बात राजा के कानों तक पहुँची। राजा ने उसको पढ़ा। राजा पर उसका गहरा असर हुआ। राजा ने बिल्हण को फाँसी की सजा से बरी कर दिया। इतना ही नहीं, उसने राजकुमारी के साथ बिल्हण का विवाह तक कर डाला।

इसी कथा को बिल्हण ने 'चौरपंचाशिका' में सँजोया है। यह एक सुन्दर प्रेमकथा है।

'चौरपंचाशिका' की इस प्रेम-कहानी को बिल्हण के जीवन से जोड़ना उचित नहीं जान पड़ता है। जिन लोगों का ऐसा कहना है उनकी बात का कोई आधार नहीं है। यह बात मनगढन्त मालूम होती है। उसके दो कारण हैं। पहले तो इस कथा में कहीं भी बिल्हण ने यह बात नहीं कही है। दूसरे 'विक्रमांकदेवचरित' में उनकी जो जीवनी दी गयी है उसमें भी इसकी कहीं चर्चा नहीं की गयी है।

बिल्हण की यह पुस्तक देखने में भले ही छोटी है लेकिन उसकी कविता बड़ी सरस और मधुर है। उसकी भाषा बड़ी सरल है। थोड़े ही संस्कृत पढ़े-लिखे की समझ में आ सकती है। उसमें जो बातें कही गयी हैं वे सीधे मन पर असर करती हैं।

कर्णसुन्दरी

उनकी दूसरी पुस्तक का नाम है 'कर्णसुन्दरी'। यह एक छोटी-सी नाटिका है। इस नाटिका को उन्होंने उस समय लिखा था जब वे अनहिलनाद (गुजरात) के राजा कर्णदेव त्रैलोक्यमल के दरबार में राजकवि थे। इसे राजा कर्णदेव त्रैलोक्यमल पर लिखा गया है।

इस पुस्तक में दूसरी बातों के अलावा एक बड़े काम की बात जानने को मिलती है। राजा त्रैलोक्यमल के समय का समाज और रीति-रिवाजों का बड़ा अच्छा

वर्णन इसमें किया गया है। उस समय के इतिहास के बारे में भी इस नाटिका से बड़ी मदद मिलती है।

विक्रमांकदेवचरित

'विक्रमांकदेवचरित' उनकी तीसरी पुस्तक है। यह महाकाव्य है। इसमें अठारह सर्ग हैं। इन अठारह सर्गों में दसवें सर्ग को छोड़ कर चालुक्य राजा विक्रमांकदेव की कहानी कही गयी है। दसवें सर्ग में बिल्हण ने अपने जीवन के बारे में लिखा है। इन दोनों कथाओं को इतिहास की घटनाओं में बाँधा गया है। इसलिए उसे ऐतिहासिक महाकाव्य कहा जाता है।

पुस्तक की कथा को राजा विक्रमांक के पिता राजा आह्वमल्ल देव से शुरू किया गया है। उसके बाद राजकुमारी चन्द्रलेखा के विवाह का वर्णन किया गया है। अन्त में दक्षिण के चोल राजाओं की पराजय की कहानी कही गयी है।

इसी कथा को अठारह सर्गों में फैलाया गया है। इस पुस्तक का नाम उसकी कथा के कारण कम, लेकिन उसमें जो दूसरी बातें कही गयी हैं उनके कारण अधिक है।

बिल्हण की यह पुस्तक बाण के 'हर्षचरित' और कल्हण की 'राजतरंगिणी' के ढंग पर लिखी गयी है। इसमें जो घटनाएँ दी गयी हैं, इतिहास की जाँच से वे सही बैठती हैं। चालुक्य राजाओं के जो शिलालेख मिले हैं उनसे पुस्तक की घटनाएँ मिलती-जुलती हैं।

दक्षिण भारत के इतिहास में चोल राजाओं और चालुक्य राजाओं का बड़ा नाम है। इन दोनों नामी राजवंशों के समय दक्षिण भारत की क्या हालत थी, इस पुस्तक में उसका अच्छा चित्र उतारा गया है। उनके समय में दक्षिण भारत कहाँ तक फैला हुआ था और वहाँ की प्रजा में कला-कौशल तथा साहित्य के लिए कितनी रुचि थी, इसका भी अच्छा परिचय मिलता है।

जैसा कि पहले बताया गया है, बिल्हण खुद भी घुमन्तू तबीयत के थे। उनकी पुस्तकों में उनके इस घुमन्तू जीवन की कई झाँकियाँ देखने को मिलती हैं। उस समय के समाज और धर्म की बातें कही गयी है। हाँ, कहीं-कहीं तो राजा विक्रमांकदेव की प्रशंसा के पुल बाँध दिये हैं।

फिर भी इस पुस्तक में उन्होंने इतिहास की घटनाओं को बाँधने की ही कोशिश की है। लेकिन वह कोरा इतिहास नहीं है। उसमें कविता का भी आनन्द है। पुस्तक इतिहास की घटनाओं के कारण ही नहीं, कविता की सुघराई के कारण भी सराही जाती है।

बिल्हण की कविता

इस कहानी में हमने पाया कि वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति और बाण ने अपनी कविता में संस्कृत की जो सरस धारा बहायी थी उसमें सारे देश की आत्मा झूम

उठी थी। उसका कारण था। इस धरती पर जो खुशहाली थी, खासियत थी, सुन्दरता थी, अपनी कविता में उन्होंने उसे बिखेर दिया था। तब से कई युग बीत गये, संस्कृत का वह जमाना भी लद गया। लेकिन जनता के मन में अपने इन प्यारे कवियों की छाप आज भी अमिट है। हम भले ही संस्कृत न जानते हों, लेकिन अपने इन कवियों को जरूर जानते हैं।

बिल्हण ऐसे ही कवि थे। वे इतने बढ़े-चढ़े तो नहीं थे। लेकिन उनकी कविता की परख बड़ी ऊँची थी। उनकी कविता साधारण जनता की समझ के लायक थी। उन्होंने उन बातों को अपनी कविता में बाँधा, जिनसे जन सामान्य परिचित था।

भवभूति के युग की तरह बिल्हण के युग में भी ऐसे लोगों की कमी नहीं थी, जो कविता की खिल्ली उड़ाने में चतुर थे। एक जगह उन्होंने लिखा है, 'जो लोग बुरी नीयत के होते हैं वे अमृत का स्वाद देने वाली कविता में भी दोष, निकालने की कोशिश करते हैं। किसी ने सच ही कहा है, ऊँट को अगर घास के हरे-भरे मैदान में भी छोड़ दिया जाय तो वहाँ भी बबूल के कँटीले झाड़ों की ही खोज करता-फिरता है।'

इस युग में शायद कविता की चोरी करने में लोग दक्ष होते थे। वे बड़े-बड़े कवियों के भावों को चुराकर खुद ही कवि बनने की कोशिश करते थे। इस बारे में बिल्हण ने लिखा है कि, 'बड़े-बड़े कवियों के भावों को छोटे-छोटे कवि चुरा लेते हैं। लेकिन इससे उनमें कोई फर्क नहीं आने पाता। समुद्र से दैत्यों ने अनगिनत रत्नों को निकाला था.लेकिन उससे समुद्र में कोई फर्क न पड़ा। समुद्र को आज भी रत्नाकर कहा जाता है।'

कवि तो प्रजापति होता है, विधाता होता है। वह जिसको जैसा चाहता है, वैसा बना देता है। वह राजाओं और राज्यों को बनाने-बिगाड़ने में भी समर्थ होता है। उदाहरण के लिए-

लंकापतेःसंकुचितं यशो यद् यत् कीर्तिपात्रं रघुराजपुत्रः।
स सर्व एवादिकवेः प्रभावो न कोपनीयाः कवयः क्षितीन्द्रैः॥ (वि० १-२७)

(राम के यश को फैलाने और रावण की कीर्ति को मिटाने का एकमात्र कारण वाल्मीकि मुनि ही थे)। बिल्हण का कहना है कि—

पृथ्वीपतेः सन्ति न यस्य पार्श्वे कवीश्वरास्तस्य कुतो यशांसि।
भूपाः कियन्तो न बभूवुरुर्व्यां जानाति नामापि न कोऽपि तेषाम्॥ (वि० १-२६)

इसलिए राजाओं को चाहिए कि वे कवियों का कभी भी निरादर न करें।

कविता को बिल्हण ने मन के मोद की वस्तु माना है। 'जिनका मन कविता के पढ़ने-सुनने से प्रसन्न नहीं होता, जान लो कि उसकी प्रसन्नता का स्रोत ही सूख गया है। ऐसे लोगों के लिए कविता लिखना, न लिखना, दोनों बराबर है।'

इस प्रकार उत्तरकालीन संस्कृत साहित्य में बिल्हण की कविता को अधिक अपनाया गया। उसकी सराहना की गयी।

पण्डितराज जगन्नाथ और उनका युग

जीवनी और समय

उत्तरकालीन संस्कृत साहित्य में जयदेव और बिल्हण के बाद पण्डितराज जगन्नाथ का नाम आता है। पण्डितराज संस्कृत के उन इने-गिने विद्वानों में से हुए, जिन पर लक्ष्मी और सरस्वती दोनों की समान कृपा थी। इस देश की जनता के मन पर जो अपनी कविता की अमिट छाप छोड़ गये, पण्डितराज का नाम उन कवियों में से है। वाल्मीकि, कालिदास और भवभूति की पिछली पीढ़ियों ने संस्कृत को जो कुछ दिया, उसको आगे बढ़ाने वाले कवियों में पण्डितराज का भी एक नाम है। पिछली पीढ़ियों से संस्कृत की महान् विरासत की जो अनेक धाराएँ प्रवाहित होती चली आ रही थीं, पण्डितराज ने कई पुस्तकें लिख कर उनको आगे बढ़ाया।

संस्कृत की इस कहानी में पण्डितराज का इसलिए भी नाम है कि उनके बाद फिर इतना महान् काव्यशास्त्री और समालोचक नहीं हुआ। इस लम्बी कहानी के वे आखिरी बिन्दु थे। उन्होंने संस्कृत भाषा को वह गौरव दिया, जो कालिदास और भवभूति ने दिया था। उनकी इन महानताओं की चर्चा करने से पहले उनके बारे में कुछ जान लिया जाय।

पण्डितराज दक्षिण भारत के रहने वाले थे। उनके पिता का नाम पेरू भट्ट और उनकी माता का नाम लक्ष्मीदेवी था। अपने माता-पिता के ये नाम उन्होंने अपनी सभी पुस्तकों के अन्त में खुद ही लिखे हैं। वे तैलंग ब्राह्मण थे। दक्षिण के तैलंग ब्राह्मणों ने संस्कृत की थाती को आगे बढ़ाने में बहुत बड़ा काम किया।

ऐसा मालूम होता है कि बालकपन में उनकी शिक्षा-दीक्षा अच्छी तरह से हुई थी। अपनी जवानी के दिनों में ही उन्होंने कई शास्त्र पढ़ लिये थे। चारों ओर उनके नाम की चर्चा होने लगी थी।

वे दक्षिण भारत में पैदा हुए। लेकिन पढ़ाई उनकी काशी में हुई थी। मथुरा में भी उन्होंने कुछ दिन बिताये।

पण्डितराज उनका असली नाम नहीं था। माता-पिता ने उनको जगन्नाथ नाम दिया था। 'पण्डितराज', उनकी उपाधि है। यह उपाधि उनको मुगल शाहंशाह शाहजहाँ ने दी थी। ऐसा कहा जाता है कि शाहंशाह शाहजहाँ ने उन्हें अपने बड़े पुत्र दाराशिकोह को संस्कृत पढ़ाने के लिए दरबार में रखा था। उनके गुणों और उनकी विद्या-बुद्धि से खुश होकर शाहजहाँ ने उन्हें अपने दरबार का कवि बनाया था।

मुगल सल्तनत के इतिहास में मुगल सम्राट् शाहजहाँ का कला-प्रेम बड़े आदर से याद किया जाता है। अपने इसी प्रेम के कारण उन्होंने कवि जगन्नाथ को अपने यहाँ रखा था। बाद में दरबार के सबसे बड़े खिताब 'पण्डितराज' से उनका सम्मान किया।

पण्डितराज दिल्ली दरबार में शायद कुछ ही दिनों रहे। अपनी जवानी का अधिकतर भाग उन्होंने दिल्ली में ही बिताया। बाद में वे मथुरा तथा काशी चले गए।

उनके बारे में यह भी कहा जाता है कि वे विचारों के बड़े उदार थे। जात-पाँत के भेद-भावों को नहीं मानते थे। इसी कारण उन्होंने एक मुसलमान कन्या से विवाह

कर लिया था।

यवनी नवनीतकोमलाङ्गी, शयनीयेयदि नीयते कदाचित्।
अवनीतलमेव साधु मन्ये नवनी माधवनी विनोद हेतुः॥

बूढ़े होने पर जब वे हिन्दू धर्म के अनुसार काशी आए तो यहाँ के पण्डितों ने उनके साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया। ऐसा भी कहा जाता है कि उनको जाति से अलग कर दिया गया था। इस पर उन्होंने 'गंगालहरी' की रचना की। उसे पढ़कर उन्होंने गंगाजी से प्रार्थना की। सुना जाता है कि पण्डितराज की उस अगाध भक्ति को जानकर गंगाजी ने उन्हें अपनी गोद में ले लिया।

इस कहानी में कितना सच्चाई है, कहा नहीं जा सकता। लेकिन उनके बारे में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि वे विचारों के बड़े उदार थे। यदि ब्राह्मण होकर उन्होंने किसी मुसलमान लड़की से शादी की भी हो तो कोई अचरज नहीं। जहाँ तक उनको जाति से निकाल देने की बात है, उस युग में ऐसा होना कोई अनहोनी बात नहीं थी। गोस्वामी तुलसीदासजी को काशी के पण्डितों ने एक छोटी-सी बात पर ही तिरस्कृत कर दिया था। उन पर यह दोष लगाया गया था कि उन्होंने संस्कृत में न लिखकर जन्म-बोली हिन्दी में लिखा।

काशी के पण्डितों से पण्डितराज की अनबन होने का एक कारण दूसरा भी था। उन्होंने अपनी पुस्तकों में काशी के दो नामी विद्वानों की पुस्तकों की खुलकर आलोचना की थी। उन विद्वानों के नाम हैं—भट्टोजि दीक्षित और अप्पय दीक्षित। इससे अप्पय दीक्षित पण्डितराज के बड़े खिलाफ थे। काशी के पण्डितों को पण्डितराज के खिलाफ भड़काने में यदि अप्पय दीक्षित का हाथ रहा हो तो अचरज नहीं।

पण्डितराज की जीवनी के बारे में इतना ही जानने को मिलता है।

वे कब हुए, यह साफ है। वे शाहजहाँ के दरबार में रहे। उनके खानखान असफखाँ और उनके पुत्र दारा पर पण्डितराज ने पुस्तकें लिखी हैं। इसलिए स्पष्ट है कि पण्डितराज जगन्नाथ आज से तीन सौ वर्ष पहले, सत्रहवीं शती में हुए।

पण्डितराज की पुस्तकें

पहले लिखा जा चुका है कि पण्डितराज को उत्तरकालीन संस्कृत साहित्य का सबसे बड़ा लेखक माना जाता है। उसका कारण यह है कि उन्होंने कई विषयों पर पुस्तकें लिख कर संस्कृत की महान् विरासत को आगे बढ़ाया। उन्होंने नयी-नयी पुस्तकें लिख कर संस्कृत की मन्द पड़ती हुई ज्योति को चमकाया। समाज का ध्यान संस्कृत की ओर लगाया। उस युग के पण्डितों को जगाया।

पण्डितराज ने लगभग तेरह पुस्तकें लिखीं। उनके नाम इस प्रकार हैं— १. गंगालहरी या पीयूषलहरी, २. सुधालहरी, ३. अमृतलहरी, ४. करुणालहरी, ५. लक्ष्मीलहरी, ६. यमुना वर्णन, ७. आसफविलास, ८. प्राणाभरण, ९. जगदाभरण, १०. चित्रमीमांसा खण्डन, ११. मनोरमा कुच मर्दन, १२. रसगंगाधर और १३. भामिनी विलास।

'गंगालहरी' में गंगाजी की स्तुति की गयी है। 'सुधालहरी' में सूर्य की स्तुति हैं। 'अमृतलहरी' में यमुनाजी की स्तुति है। 'लक्ष्मीलहरी' में लक्ष्मीजी की स्तुति है। 'यमुना वर्णन' का नाम ही देखने को मिलता है। जैसा कि उसके नाम से मालूम होता है, उसमें यमुनाजी की छटा का वर्णन किया गया होगा। 'आसफविलास' भी इस समय नहीं मिलता उसे शाहंशाह शाहजहाँ के खानखानाआसफ खाँ पर लिखा गया था। 'प्राणाभरण' में कामरूप (आसाम) के राजा प्रभुनारायण की तारीफ की गयी है। 'जगदाभरण' दारा पर लिखा गया है। 'चित्रमीमांसा खण्डन' में अप्पय दीक्षित की 'चित्रमीमांसा' नामक पुस्तक के दोषों को गिनाया गया है। 'मनोरमा कुचमर्दन' में भट्टोजि दीक्षित की 'मनोरमा' नामक पुस्तक की आलोचना की गयी है।

इन ग्यारह पुस्तकों में से पहली पाँच पुस्तकों में पण्डितराज के भक्त मन की अतल गहराई देखने को मिलती है। उनमें अपने को तारने और उबारने की विनती की गयी है। उनकी 'गंगालहरी' तो इतनी लोकप्रिय है कि आज भी हमारे अधिकतर घरों में उसका गा-गा कर पाठ होता है। भक्त जनों का वह कण्ठहार बन गयी है।

'रंसगंगाधर' पण्डितराज की प्रतिभा का अमर उदाहरण है। साहित्य सागर का वह अनोखा रत्न है। उसे रस पर लिखा गया है। संस्कृत में नौ प्रकार के रस माने जाते हैं। उनके नाम हैं— १. शृंगार, २. हास्य, ३. करुण, ४. रौद्र, ५. वीर, ६. भयानक, ७. वीभत्स, ८. अद्भुत, और ९. शान्त।

किसी कविता को पढ़ने-सुनने से जो आनन्द मिलता है वही रस है। पण्डितराज ने अपनी इस पुस्तक में दिखाया है कि जिस तरह हमारे शरीर में आत्मा है उसी प्रकार काव्य की आत्मा रस है। इस बात को कोई दूसरे लोगों ने भी माना है। लेकिन पण्डितराज ने उस पर पूरी की पूरी पुस्तक लिखकर सब को मात कर दिया है। इस पुस्तक के कारण उनको 'आचार्य' कहा जाता है।

इस तरह पण्डितराज को संस्कृत में कवि और आचार्य, दोनों तरह का सम्मान दिया गया है।

उनके जीवन की यादगार उनकी पुस्तक 'भामिनीविलास' है। यह पुस्तक उनके काव्य-प्रेम की अमर निधि है। उसमें महाकवि कालिदास की कविता की सरसता और जयदेव के गीतों की छटा देखने को मिलती है।

उसमें चार विलास या अध्याय हैं। उनके नाम हैं— १. प्रास्ताविक विलास, २.शृंगारविलास, ३. करुण विलास और ४. शान्त विलास। इन चारों विलासों में कविता की जो रस-धारा उन्होंने बहाई है, सारे कविताप्रेमी उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं।

पण्डितराज की कविता

पण्डितराज ने कई पुस्तकें लिखीं। उनमें अनेक तरह की बातें कहीं। किसी में उन्होंने अपने भक्त मन की सादगी को जाहिर किया। किसी में साहित्यशास्त्र की गम्भीर बातों की चर्चा की। किसी में अपने गम्भीर व्याकरणशास्त्र की जानकारी को पेश किया। लेकिन रहे वे अंत तक कवि ही। कविता के लिए उनमें अथाह प्रेम था।

अपने मन की गहराइयों को उन्होंने कविता में प्रगट किया। अपने कविता-प्रेम को उन्होंने इस प्रकार जाहिर किया है—

'मेरी अच्छी कविता, जिसमें रंचमात्र भी दोष नहीं; जो सुनने में अच्छी लगती है; जिसमें मैंने एक-एक को सँजो करके रखा है, मेरी प्यारी और सुन्दरी स्त्री की तरह है, जो कि मुझ से कभी भी जुदा नहीं होती।'

अपनी कविता पर पण्डितराज को बड़ा गर्व था। उन्हें पूरा विश्वास था कि उन्होंने जो कुछ लिखा है उसे पढ़-सुनकर कोई भी कविताप्रेमी आनन्दविभोर हुए बिना नहीं रह सकता। उन्होंने लिखा है—

'जिसकी कविता को सुनने के लिए सरस्वती भी अपनी वाणी तथा वीणा को बजाना बन्द कर देती हैं, उस पण्डितराज की कविता को सुन कर कोई व्यक्ति अगर झूमने और वाह-वाह न करने लगे तो समझ लो वह निरा मूर्ख है।'

अपने किसी विरोधी को कविता के तीरों से घायल कर देने में वे कुशल थे। उनके कहने का तरीका सीधा नहीं था। वे घुमाकर कहते थे। लेकिन जिस पर चोट करते थे वह तिलमिला जाता था। उन्होंने एक जगह लिखा है—

'राजहंसों के जिस सरताज ने खिले हुए कमलों से भरपूर मान-सरोवर के निर्मल जल में अपनी आयु के दिन बिताये हों, भला तुम्हीं बताओ, वही अब मेढ़कों से खचाखच भरे किसी कीचड़सने तालाब में कैसे रह सकता है?'

उन्होंने शायद यह बात अपने किसी आश्रयदाता राजा के बारे में कही है। बादशाह शाहजहाँ के दिल्ली दरबार में रहने के बाद वे किसी छोटे-मोटे रजवाड़े में कैसे रह सकते थे। यही बात उन्होंने यहाँ कही है। अन्यत्र उन्होंने लिखा है—

दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा, मनोरथान् पूरयितुं समर्थः।
अन्येन केनापि नृपेण दत्तं, शाकाय वा स्याल्लवणाय वा स्यात्॥

(उनकी मनोवांछा को दिल्लीश्वर या ईश्वर ही पूरा कर सकते हैं, अन्य लोगों से प्रदत्त धन नमक या शाकमात्र के लिये ही हो सकता है)।

इस तरह पण्डितराज संस्कृत भारती के अमर पुत्र थे। उनकी कविता आज और दूर भविष्य तक हमें प्रेरणा देती रहेगी।

□□

संस्कृत साहित्य के प्रमुख ग्रन्थ

वेद

१. ऋग्वेद, २. यजुर्वेद (शुक्ल एवं कृष्ण), ३. सामवेद, ४. अथर्ववेद।

प्रमुख उपनिषद

१. ईशावास्य, २. केनोपनिषद्, ३. कठोपनिषद्, ४. प्रश्नोपनिषद्, ५. मुण्डकोपनिषद्, ६. माण्डूक्योपनिषद्, ७. तैत्तरीयोपनिषद्, ८. ऐतैरेयोपनिषद्, ९. छान्दोग्योपनिषद्, १०. वृहदाण्यकोपनिषद्, ११. कौषातकी उपनिषद्, १२. श्वेताश्वतरोपनिषद्।

महापुराण

१. विष्णुपुराण, २. भागवतपुराण, ३. अग्निपुराण, ४. मत्स्यपुराण, ५. मार्कण्डेयपुराण, ६. भविष्यपुराण, ७. ब्रह्माण्डपुराण, ८. ब्रह्मवैवर्तपुराण, ९. ब्रह्मपुराण, १०. वामनपुराण, ११. वराहपुराण, १२. वायु पुराण, १३. नारदपुराण, १४. पद्मपुराण, १५. लिंगपुराण, १६. गरुणपुराण, १७. कूर्मपुराण, १८. स्कन्दपुराण।

रामायण (वाल्मीकि), महाभारत (वेद व्यास)

प्रमुख काव्य

रघुवंश, कुमारसम्भव (कालिदास), किरातार्जुनीय (भारवि), शिशुपालवध (माघ), नैषधीयचरित (श्रीहर्ष), विक्रमांकदेवचरित (बिल्हण)।

प्रमुख नाटक

अभिज्ञान शाकुन्तल (कालिदास), स्वप्नवासवदत्तम् (भास), मृच्छकटिक (शूद्रक), रत्नावली (हर्ष), वेणीसंहार (भट्टनारायण), उत्तररामचरित (भवभूति)।

प्रमुख गद्य-काव्य

बृहत्कथा (गुणाढ्य), दशकुमारचरितम् (दण्डी), हर्षचरित, कादम्बरी (बाणभट्ट)

प्रमुख गीतिकाव्य

ऋतुसंहार, मेघदूत (कालिदास), नीतिशतक (भर्तृहरि), गीतगोविन्दक काव्यम् (जयदेव), गंगालहरी, भामिनीविलास (पण्डितराज जगन्नाथ)।

नीति कथा साहित्य

पञ्चतन्त्र, हितोपदेश (विष्णु शर्मा), कथासरित्सागर (सोमदेव), वृहत्कथामञ्जरी (क्षेमेन्द्र)।

●

संस्कृत साहित्य की कहानी

देववाणी संस्कृत अपने शब्द भण्डार, व्याकरण, भाषाशास्त्र तथा साहित्य सभी दृष्टियों से अत्यन्त समृद्ध भाषा है। संस्कृत-संस्कृति ने भारत की सभ्यता, संस्कृति, भाषा और साहित्य को अनेक रूपों में प्रभावित किया है। भारत की सभी भाषाएँ संस्कृत से जीवनी शक्ति ग्रहण करती रही हैं। यह हमारे ज्ञान और संस्कृति की धरोहर है, इससे हम रस ग्रहण करते हैं, यह हमें सभ्य, सुशील और समृद्ध बनाती है। संस्कृत भाषा तथा साहित्य कश्मीर से कन्याकुमारी, द्वारका से कामाख्या तक देश को एक सूत्र में बाँधती है।

जिन्होंने संस्कृत भाषा का विधिवत अध्ययन नहीं किया है उनके लिए संस्कृत साहित्य की अमूल्य निधि से परिचित होने की अपेक्षा है। संस्कृत साहित्य की कहानी इसी दृष्टि से प्रस्तुत की गयी है ताकि जनमानस को संस्कृत वाङ्मय की जानकारी हो सके और संस्कृत साहित्य के अध्ययन में उनकी रुचि जागृत हो।

संस्कृत वर्ष (१९९९-२०००) के अवसर पर प्रकाशित यह पुस्तक संस्कृत-संस्कृति प्रेमियों के लिए प्रेरक सिद्ध होगी, ऐसी आशा है।

विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी